दस्तक

(ग़ज़ल-संकलन)

संकलन

पवन कुमार

प्रकाशन संस्थान
नयी दिल्ली-110002

प्रकाशक
प्रकाशन संस्थान
4268-B/3, अंसारी रोड, दरियागंज
नयी दिल्ली-110 002

मूल्य : 200.00 रुपये
प्रथम संस्करण : सन् 2014
ISBN : 978-93-82848-88-2
आवरण : डॉ. लाल रत्नाकर

शब्द-संयोजन : कम्प्यूटेक सिस्टम, दिल्ली-110032
मुद्रक : बी. के. ऑफसेट, दिल्ली-110032

उर्दू साहित्य के
अध्येता, मनीषी और विद्वान
आदरणीय प्रो. गोपी चंद नारंग
को सादर समर्पित

तख़ईल को तख़लीक की तौफ़ीक अता कर
फिर पहलू से इक चीज़ निकलने के लिए दे

–शीन काफ़ निज़ाम

...आदाब!

वो तेग मिल गयी जिससे हुआ है क़त्ल मेरा
किसी के हाथ का उस पर निशां नहीं मिलता
वो मेरा गाँव है वो मेरे गाँव के चूल्हे
कि जिनमें शोले तो शोले धुआँ नहीं मिलता

1974 के आस-पास कैफ़ी आज़मी जब ये बात कह रहे थे तो शायद ही उन्हें यह अन्दाजा रहा होगा कि ऐसे समय में जबकि उनकी शायरी फल-फूल रही है अवाम को आन्दोलित कर रही है, उसी दौरान एक नयी पीढ़ी भी आस्मां से जमीं पर उतर रही है। यह वह पीढ़ी थी जो 70 के दशक में अपनी आँखें खोल रही थी, जिसने 80 के दशक तक आते-आते अपनी चेतना को जगाया और 90 के दशक तक आते-आते अदब की महफ़िलों में अपनी हाज़िरी जताने लगी। 90 का दशक दुनिया भर में बदलाव लाने वाला था। दुनिया बदल रही थी। दुनिया एक 'ग्लोबल विलेज' में तब्दील हो रही थी। सरहदें खत्म हो रही थीं। आर्थिक उदारवाद और इंसानी रिश्तों की नयी हक़ीक़तें सामने आ रही थीं। समाज बदल रहा था। तहज़ीब और तरक़्क़ी का नया दौर सामने आ रहा था, विज्ञान एवं तकनीकें समाज का हिस्सा बन रही थीं। हिन्दुस्तान भी इसी बदलाव की हवा में बहा। फिजिक्स और मेटा फिजिक्स के दरमियां नयी राहें तलाशता यह मुल्क नयी इबारतें रचने के लिए आकुल-व्याकुल था। कम्प्यूटर क्रांति आ चुकी थी। अहसासों का इन्सानी तकाज़ा कुछ ढीला पड़ रहा था, क्रांतिकारी-मज़दूर आन्दोलन ख़त्म होने की ओर था। एक जटिल सामाजिक संरचना का ताना-बाना बुना जा रहा था। घर, मकानों में तब्दील हो रहे थे। इस पीढ़ी के खेलने-खाने का दौर इन्हीं बदलावों के दरमियां बीता। जब इस पीढ़ी ने अपने ज़ेहन के दरवाज़े खोले तो हिन्दुस्तान 'बाज़ार' की

शक्ल अख़्तियार कर रहा था। उदारीकरण की बयार पूरे ज़ोरों पर थी। आदमी 'यूनिट' और 'कमोडिटी' में अपनी शिनाख़्त पुख़्ता करने की मानसिकता में ढल चुका था।

मुल्क-ग़ैर मुल्क जैसी बातें जब लगभग बीती बातें हो चुकी थीं। ख़तों-कबूतरों के ज़माने लद रहे थे, सम्पर्क के लिए टेलीफ़ोन-मोबाइलों का जाल फैल रहा था। ऐसे में इस पीढ़ी ने ख़ुद को ढाला। इन हालात का असर शाइरी पर पड़ना ही था। पुरानी पीढ़ी के तमाम शाइर रिवायती तौर पर अभी भी ख़त, कबूतर, शराब, शबाब जैसे ख़्यालों का दोहराव और अल्फ़ाजों की जुगाली कर रहे थे मगर यह नयी पीढ़ी थी जिसने अपने वक़्त के तमाम ख़्यालों, विचारों, तब्दीलियों को अपनी शायरी में शामिल करने में गुरेज़ नहीं किया। यह वह वक़्त था जब रिवायती शाइरी और जदीद शाइरी एक साथ चल रही थीं।

ग़ज़लों में भाषाई और ख़्यालों के मुसलसल नस्ल दर नस्ल बदलाव पर अगर बात करनी है तो ज़रा पीछे चलना होगा ताकि इस मौज़ू पर क़ायदे से रौशनी डाली जा सके। यूँ तो उर्दू ग़ज़ल ने कई सदियों का सफर तय कर लिया है। ग़ालिब, मीर, सौदा, दर्द, मोमिन, दाग़ जैसे गुहर इसकी झोली में हैं मगर हम बहुत पीछे न जायें बस बीसवीं सदी की ओर ही पीछे मुड़कर देखें तो बहुत अहम बदलाव-तब्दीलियाँ ज़ाहिर होती हैं। सच तो यह है कि बीसवीं सदी तक आते आते ग़ज़ल ने जो नये रास्ते और नये मआनी अख़्तियार किये जो अब तक जारी हैं। ऐसा माना जाता है कि उन्नीसवीं सदी का आख़िरी और बीसवीं सदी का शुरूआती ज़माना ग़ज़ल के बजाय नज़्म का ज़माना था। इस दौर में हाली और मो. हुसैन आज़ाद जैसे शायरों ने ग़ज़ल के मुक़ाबिल नज़्म को ज़्यादा तरजीह दी। बीसवीं सदी की शुरूआत में यही स्थिति रही लेकिन नज़्म के साथ-साथ ग़ज़ल लिखे जाने की रिवायत जारी रही। इस दौर के ग़ज़लकारों की फेहरिस्त में सफ़ी, अज़ीज़, आरज़ू, साक़िब, महशर, फ़ानी, यगाना, सीमाब, अस्ग़र, जिगर और हसरत वग़ैरह के नाम लिये जा सकते हैं। इस दौर के चंद शेर मुलाहिज़ा हों—

इतना बुलन्द कर नजरे-जलवा-ख़्वाह को
जलवे ख़ुद आयें ढूँढ़ने तेरी निगाह को

(सीमाब अकबराबादी)

शेर में रंगीनिए जोशे तख़य्युल चाहिये
मुझको अस्ग़र कम है आदत नाल-ओ-फ़रियाद की

(अस्ग़र)

मैं हूँ मजबूर तो मजबूर की पुरसिश क्या है
वो मसीहा हैं तो बीमार को अच्छा न करें

(हसरत)

सफ़र को थोड़ा आगे और बढ़ायें तो इस सदी के शुरूआती पड़ाव में इक़बाल का नाम महत्त्वपूर्ण शाइर के रूप में लिया जा सकता है जिन्होंने नज़्म को अपने शेअरी इज़हार का वसीला बनाने के बावजूद ग़ज़ल की तरफ़ भी तवज्जो की। उन्होंने उर्दू शाइरी को ऐतिहासिक और सांस्कृतिक स्तर पर प्रभावित करते हुए क़ौम को अपने विचारों से जोड़ा। शाहीन, इब्लीस जैसे प्रतीकों से ग़ज़ल को एक नई दिशा और वुसअत अता की।

ख़िरदमन्दों से क्या पूछूँ कि मेरी इब्तिदा क्या है
कि मैं इस फ़िक्र में रहता हूँ मेरी इंतिहा क्या है
.ख़ुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तकदीर से पहले
.ख़ुदा बन्दे से .ख़ुद पूछे बता तेरी रज़ा क्या है

(इकबाल)

ब्रज नारायण चकबस्त भी उनके समकालीन शाइर थे, जिनका 1918 में 'सुबहेवतन' नाम से एक काव्य-संग्रह सामने आया। ग़ज़ल की इस परम्परा को आगे ले जाने में जोश मलीहाबादी, जिगर, मजाज़, जज़्बी, फ़ैज़, साहिर, अख़्तर शीरानी, मजरूह, अली सरदार ज़ाफरी, जाँ निसार अख़्तर और शकील बदायूँनी ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इनमें फ़ैज़ और मजरूह को एक ख़ास मुकाम हासिल हुआ। इन शाइरों ने ग़ज़ल की रूढ़िगत परम्पराओं में परिवर्तन लाने का प्रयास किया। ये दोनों शाइर ग़ज़ल के रवायती मिज़ाज को ज़मानए हाल से हमआहंग करने का हुनर जानते हैं। इस दौर के इन अशआर को मुलाहिज़ा कीजिये–

हम ऐसे अहले नज़र को सुबूते-हक़ के लिए
अगर रसूल न होते तो सुब्ह काफ़ी थी

(जोश मलीहाबादी)

वो तो कहीं है और मगर दिल के आस पास
फिरती है कोई शै निगहे यार की तरह

बचा लिया मुझे तूफ़ां की मौज ने वर्ना
किनारे वाले सफ़ीना मेरा डुबो देते

(मजरूह)

बड़ा है दर्द का रिश्ता ये दिल ग़रीब सही
तुम्हारे नाम पे आयेंगे ग़मगुसार चले

(फैज़)

आज से मेरे फ़न का मक़सद ज़ंजीरे पिघलाना है
आज से मैं शबनम के बदले अंगारे बरसाऊँगा

(साहिर)

उससे मिलने की ही अब तदबीर क्या
हम जो कर सकते थे हमदम कर चुके

(अख़्तर शीरानी)

सिर्फ़ लहरा के रह गया आँचल
रंग बनकर बिखर गया कोई
ग़र्दिशे-ख़ू रगों में तेज़ हुई
दिल को छूकर गुज़र गया कोई

(सरदार ज़ाफरी)

इस शाइरी और इसके बाद की शाइरी की भाषा और फ़िक्रे-इमरोज़, फ़िक्रे फ़र्दा पर अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले परिवर्तनों यथा प्रथम विश्वयुद्ध और राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले परिवर्तनों तथा स्वतन्त्रता आन्दोलन का प्रभाव साफ-साफ देखा जा सकता है । इसी बीच लन्दन में मुल्कराज आनन्द, सज्जाद ज़हीर और उनके कुछ अदबी दोस्तों ने प्रगतिशील साहित्यकारों का एक मण्डल बनाया जिसका फैलाव हिन्दुस्तान में हुआ। इसे तरक़्क़ी पसन्द तहरीक का नाम दिया गया। इस दौर के शाइरों ने असमानता, शोषण, गरीबी इत्यादि को अपना विषय बनाया और इन्क़लाबी जज़्बे को दिखाया। यह अलहदा पहलू है कि तरक़्क़ी पसन्द तहरीक के लोगों ने ग़ज़ल को सामंतवादी युग की ही यादगार मानकर ख़ारिज कर देना चाहा।

जिस ज़माने में तरक़्क़ी पसन्द शायरी परवान चढ़ रही थी, तक़रीबन उसी ज़माने में फ़िराक़ को उर्दू शायरी की एक नयी आवाज़ से ताबीर किया जा रहा था। उसी ज़माने में जोश अपनी बलंद आहंग शायरी का जादू जगा रहे थे। फ़िराक़ ने अपनी ग़ज़ल में नर्म और धीमा लहजा अख़्तियार किया। उनकी शाइरी को इश्क़िया ज़िन्दगी की नयी कद्रों से ताबीर किया गया।

जिंदगी से तो खैर शिकवा था
मुद्दतों मौत ने भी तरसाया

पाल ले इक रोग नादाँ जिन्दगी के वास्ते
वरना सेहत के सहारे जिंदगी कटती नहीं

यह वो दौर था जब मुल्क ने तमाम तब्दीलियाँ देखीं, जैसे महायुद्ध, ब्रितानी हुकूमत का ज़लज़ला, देश विभाजन, मज़हबी दंगे वगैरह-वगैरह। इसका प्रभाव पूरे समाज पर पड़ा, साहित्य पर पड़ा तो ज़ाहिर है कि तत्कालीन शाइरी पर भी होगा। फ़िराक़ के बाद ख़लीलुर्रहमान आज़मी, इब्ने इन्शा, नासिर काज़मी और अहमद मुश्ताक़ वगैरह के यहाँ यही लहजा नयी ग़ज़ल की शिनाख़्त बना। इन शोअरा के चन्द अशआर मुलाहिज़ा हों–

कब की हमारे इश्क़ की नौबत क़ैस से आगे जा पहुँची
रस्मन लोग अभी तक उस मरहूम का ज़िक्र अज़कार करें

दुर्ज-ए-चश्म में अश्क के मोती ले जाने हैं उनके हुज़ूर
चोखा रंग लहू का दे कर और उन्हें शहवार करें

(इब्ने इन्शा)

तेरे विसाल की उम्मीद अश्क बन के बह गयी
ख़ुशी का चाँद शाम ही से झिलमिला के रह गया

(नासिर)

इसके बाद नयी ग़ज़ल में चंद अहम नाम और सामने आए जिनमें मुनीर नियाज़ी का नाम भी चमका, जिन्होंने ग़ज़ल को एक नयी मानवी जिहत अता की। इसी दरमियाँ ज़फ़र इक़बाल सामने आए जिन्होंने नए-नए प्रतीकों से शायरी को जगमगाया। इनके ये अशआर मुलाहिज़ा हों–

बेचैन बहुत फिरना घबराये हुए रहना
इक आग सी ज़ज्बो की बहकाये हुए रहना

(मुनीर नियाज़ी)

मैं भी शरीक-ए-मर्ग हूँ मर मेरे सामने
मेरी सदा के फूल बिखर मेरे सामने
आख़िर वो आरजू मेरे सर पर सवार थी
लाए थे जिसको ख़ाक-ब-सर मेरे सामने

(ज़फर इक़बाल)

ज़फ़र इकबाल की बेयक़ीनी और मायूसीभरी शायरी को नई सूरतों और कैफ़ियात से शहरयार ने बदला। उनकी शाइरी हमें जीवन के प्रति प्रेम का संदेश देते हुए दुनिया को न केवल ख़्वाब देखने बल्कि उन्हें पाने के लिए भी प्रेरित करती है—

दुनिया ने हर मुहाज़ प' मुझको शिकस्त दी
ये कम नहीं कि ख़ाब का परचम निगूं न था

तुम्हारे शह्र में कुछ भी हुआ नहीं है क्या
कि तुमने चीखों को सचमुच सुना नहीं है क्या
मैं इक ज़माने से हैरान हूँ कि हाकिमे-शह्र
जो हो रहा है उसे देखता नहीं है क्या

(शहरयार)

इस दौर में कुछ शायरों ने लफ़्ज़ की अलामती क़ुव्वत को समझने के साथ-साथ उसकी तस्वीरी सिफ़त को भी समझा। ऐसे शायरों में बानी, ज़ेब ग़ौरी, सलीम अहमद, साक़ी फ़ारुक़ी, मुहम्मद अल्वी, वज़ीर आग़ा, आदिल मंसूरी, निदा फ़ाज़ली, फ़िज़ा इब्ने फ़ैज़ी, मज़हर इमाम, बशर नवाज, सरवत हुसैन, मुज़फ़्फ़र हनफ़ी, सुल्तान अख़्तर, उबैदुल्ला अलीम, मुसव्विर सब्ज़वारी, नश्तर ख़ानक़ाही, ग़ुलाम मुर्तज़ा राही आदि ऐसे शाइर हैं, जिन्होंने नई ग़ज़ल में अपना स्थान बनाया है—

न जाने कल हों कहाँ साथ अब हवा के नहीं
कि हम परिन्दे मक़ामाते गुमशुदा के हैं

(बानी)

दुःख का अहसास न मारा जाए
आज जी खोल के हारा जाए
सोचने बैठें तो इस दुनिया में
एक लम्हा न गुज़ारा जाए

(मुहम्मद अलवी)

हवा में उड़ता कोई ख़ंजर जाता है
सर ऊँचा करता हूँ तो सर जाता है
धूप इतनी है बंद हुई जाती है आँख
और पलक झपकूँ तो मंज़र जाता है

(ज़ेब गौरी)

जदीद शाइरी में इसके बाद मजीद, मुनीर नियाज़ी, किश्वर नाहीद और परवीन शाकिर आदि का नाम आता है लेकिन इस दौर की शायरी का जिक्र शिकेब जलाली के बगैर अधूरा है। जो तड़प, जो ताबिन्दगी और सिम्बल्स की शक्ति उनके अशआर में है वो और कहीं नहीं मिलती। हालाँकि लगभग इसी समय (1970 के आस-पास) ऐसा महसूस किया जाने लगा था कि ग़ज़ल मौज़ूआत और असालीब के एक दायरे में गर्दिश कर रही है। इस दायरे से बाहर निकलने की छटपटाहट में नई ग़ज़ल की ज़मीन तैयार हो रही थी। नई ग़ज़ल के नुमाइन्दा शायरों ने सन् 1950 के बाद अपने ज़माने की ज़हनी कैफ़ियतों के इज़हार के लिए जिस लफ़्ज़ियात को तैयार किया था उसी लफ़्ज़ियात के ज़रिये हमारी शायरी 1970 के बाद तक आगे बढ़ रही थी—

मुरझा के काली झील में गिरते हुये भी देख
सूरज हूँ मेरा रंग मगर दिन ढले भी देख
हर चन्द राख हो के बिखरना है राह में
जलते हुए परों से उड़ा हूँ मुझे भी देख

(शिकेब जलाली)

इफ़्तिख़ार आरिफ़, इरफ़ान सिद्दीक़ी, अहमद मुश्ताक, ने भी इंसानी तकाजों की जुस्तजू की और शाइरी को नया उफुक दिया। 1970 के बाद ग़ज़ल में नये-नये विषय जगह बनाने लगे। इस दौर में इफ़्तिखार आरिफ़ और इरफ़ान सिद्दीक़ी आदि प्रमुख शायर हैं। धीरे-धीरे तब्दीली के इसी अहसास को इस नये तर्ज़े इज़हार को माबादे जदीद ग़ज़ल का नाम दिया जाने लगा—

सुख़न-ए-हक़ को फ़ज़ीलत नहीं मिलने वाली
सब्र पर दाद-ए-शुजाअत नहीं मिलने वाली
वक़्त-ए-मालूम की दहशत से लरज़ता हुआ दिल
डूबा जाता है के मोहलत नहीं मिलने वाली

(इफ़्तिख़ार आरिफ़)

वो जो एक शर्त थी वहशत की, उठा दी गई क्या
मेरी बस्ती किसी सेहरा में बसा दी गई क्या
वही लहजा है मगर यार तेरे लफ़्ज़ों में
पहले इक आग सी जलती थी, बुझा दी गई क्या

(इरफ़ान सिद्दीक़ी)

सब फूल दरवाज़ों में थे सब रंग आवाज़ों में थे
इक शह्र देखा था कभी उस शह्र की क्या बात है

(अहमद मुश्ताक़)

जुगनू को दिन के वक़्त परखने की ज़िद करें
बच्चे हमारे अहद के चालाक हो गये

(परवीन शाकिर)

इस जदीद ग़ज़ल और माबादे जदीद ग़ज़ल की संक्रमण रेखा पर अहसान दानिश, अदा जाफ़री, अहमद हमदानी, वज़ीर आग़ा, फ़ारिग़ बुख़ारी, किश्वर नाहीद, महबूब ख़िज़ाँ, अमजद इस्लाम, शहज़ाद अहमद जैसे अनेक नाम मिलते हैं जिन्होंने अपने अन्दाज़ में नये ज़ाविये ग़ज़ल को अता किये इनके कुछ शेर मुलाहिज़ा हों–

निकल के हल्क़ा-ए-शाम-ओ-सहर से जाएँ कहीं
ज़मीं के साथ न मिल जाएँ ये ख़लाएँ कहीं
सफ़र की रात है पिछली कहानियाँ न कहो
रूतों के साथ पलटती हैं कब हवाएँ कहीं

(अमजद इस्लाम)

बीमार हैं तो अब दम-ए-ईसा कहाँ से आए
उस दिल में दर्द-ए-शौक-ओ-तमन्ना कहाँ से आए
बेकार शर-ए-लफ़्ज़-ओ-मआनी से फ़ायदा
जब तू नहीं तो शह्र में तुझ सा कहाँ से आए

(किश्वर नाहीद)

सितम हवा का अगर तेरे तन को रास नहीं
कहाँ से लाऊँ वो झोंका जो मेरे पास नहीं

(वज़ीर आग़ा)

शऊरे जात ने ये रस्म भी निबाही थी
उसी को क़त्ल किया जिसने ख़ैर चाही थी
तुम्हीं बताओ कि मैं अपने हक़ में क्या कहता
मेरे खिलाफ़ भरे शह्र की गवाही थी

(शहज़ाद अहमद)

सन् 1990 तक आते-आते इस अहसास व इज़हार की नुमाइन्दगी करने वालों में क़ुव्वत आती गई और उन्होंने अपनी शायरी के शिनाख़्त के नये पैमानों की तलाश

शुरू कर दी और रफ़्ता-रफ़्ता ये बात आम होने लगी कि तख़्लीक़ी इक़्दार, समाजी इक़्दार से मुतास्सिर हुए बग़ैर नहीं रह सकते। अदब के इन नये तख़्लीक़ी मुतालबों की अहमियत व मानवीयत को काफ़ी हद तक महसूस किया गया। इस नई अदबी सूरते हाल पर नये और पुराने अदीबों और फ़नकारों के दरमियान ये महसूस किया जाने लगा कि अदब का मंज़रनामा तब्दील हो रहा है और जदीदियत के बाद इस तब्दील होते हुए मंज़रनामे को माबादे जदीदियत से ताबीर करना ग़लत न होगा और जदीदतर ग़ज़ल को उन्हीं तब्दीलियों की रौशनी में देखते हुए ये नतीजा निकाला गया कि ये ग़ज़ल (माबादे जदीद ग़ज़ल) उस ग़ज़ल से मुख़्तलिफ़ है जो अब तक हमारे दरमियान तक मौजूद थी। माबादे जदीद ग़ज़ल की नुमाइन्दगी की मिसाल के तौर पर कुछ अशआर मुलाहिज़ा हों—

मुकम्मल ख़ुद तो हो जाते हैं सब किरदार आख़िर में
मगर कमबख़्त क़ारी को अधूरा छोड़ देते हैं

(शुजा ख़ावर)

मिलता नहीं है फिर भी सिरा आसमान का
कर-कर के थक चुका हूँ ज़मी का तवाफ़ में

(अफ़ज़ल गौहर)

ये कच्ची मिट्टियों का ढेर अपने चाक पर रख ले
तिरी रफ़्तार का हम रक़्स होना चाहता हूँ

(फ़रहत एहसास)

उड़ने को बेक़रार परिन्दे थे शाम थी
मौसम था हिज्रतों का मगर आँख तर न थी

(ख़लील तनवीर)

मेरा दिल आख़िरी तारे की तरह है गोया
डूबना उसका नए दिन की बशारत होगा

(असद बदायूँनी)

मेरी मिट्टी में मेरी ख़ुशबू है, मेरा रंग है
मैं दर-ओ-दीवार की तहज़ीब से बाहर नहीं

(महताब हैदर नक़्वी)

ये तेरा ताज नहीं है हमारी पगड़ी है
ये सर के साथ ही उतरेगी सर का हिस्सा है

(ख़ुशवीर सिंह 'शाद')

वो दर्द भरी चीख़ मैं भूला नहीं अब तक
कहता था कोई बुत मुझे पत्थर से निकालो

(भारत भूषण पंत)

इन अशआर में जो नया अहसास, नयी मानवीयत, तर्ज़े इज़हार के नये तख़्लीक़ी रवैये, नयी शेअरी जिहत, नयी इशारियत और आलमियत के जो अनासिर नज़र आते हैं वो जदीद ग़ज़ल के नहीं बल्कि जदीदतर ग़ज़ल (माबादे जदीद ग़ज़ल) की शिनाख़्त हैं।

शायरी न केवल अपने हाल से मुतास्सिर होती है बल्कि हाल पर असर भी डालती है। जैसे आज़ादी के बाद जब मुल्क अपनी नयी शक्लो-सूरत अख़्तियार कर रहा था, शायरी में यकीनन उस दौर की, और उस दौर की आवाजें बाज़गश्त थीं। दौर बदलता गया। उस समय नौजवान होती पीढ़ी की काव्य चेतना में अपने दौर की अच्छाइयों और बुराइयों का समावेश हुआ। नब्बे की दहाई में जवान होती इस नस्ल ने शायरी के दोनों सिरों को पकड़ा। एक सिरा स्टेज तक पहुँचता था और दूसरा सिरा क्लासिकल पोइट्स से होता हुआ जदीदतर शायरो के कलामों को पहुँचता था। सुनने और पढ़ने के बीच से यह पीढ़ी अपने रास्ते बनाने को बेताब थी। स्टेज पर जहाँ इस पीढ़ी ने बशीर बद्र, कृष्ण बिहारी नूर, वसीम बरेलवी, अदम गोण्डवी, बेकल उत्साही, कतील शिफ़ाई जैसे शायरों को सुना वहीं निदा फ़ाज़ली, क़ैसर उल जाफ़री, अख़्तर नज्मी, शहरयार, अहमद फ़राज़, अली सरदार जाफ़री, अहसान दानिश, जॉन एलिया, कुमार पाशी, शीन क़ाफ़ निज़ाम, मख़्मूर सईदी, जाँनिसार अख़्तर आदि का कलाम पढ़ा। इस नस्ल को सिनेमाई कल्चर ने भी एक हद तक प्रभावित किया। हसन कमाल, गुलज़ार, जावेद अख़्तर जैसे फिल्मी गीतकारों ने भी नयी नस्ल को सँवारने में बहुत बड़ा योगदान दिया। इन गीतकारों के सिनेमाई गीतों में भी शायरी की चमक अलग-थलग दिखाई देती है जिससे यह नयी नस्ल बहुत मुतास्सिर हुई। बज़ाहिर इस पीढ़ी ने जो रास्ता अख़्तियार किया वो थोड़ा-सा अलग था। इस पीढ़ी की आवाज़ बेशक पुरानी पीढ़ी की तरह बहुत पुरअसर नहीं थी मगर ऐसी भी नहीं थी कि उसे अनसुना कर दिया जाए। दरअस्ल यह संकलन उन्हीं आवाजों का अक्स है जो नब्बे की दहाई में शेरो-सुखन से वाकिफ़ हुई।

इस संकलन की बुनियाद कैसे पड़ी.....यदि इसकी बात करें तो यह बताना मुनासिब होगा कि यह ख़याल आया कि उस नौजवान नस्ल जिसकी आमद अदब में हो तो चुकी है मगर पुराने शायर और नक़्क़ाद यक़ीनन उनकी आवाजों को सुनकर

भी अनसुना कर रहे हैं, उनकी रचनाओं का एक संकलन तैयार किया जाए। यह पूरी क़वायद इसलिए भी समझी जा सकती है कि जब तक शायर पूरी तरह शिनाख़्त हासिल नहीं कर लेता वह नया ही कहलाया जाता रहता है। इस संकलन के ज़रिए एक कोशिश है कि ऐसे शोअरा जो नौजवान हैं, उन्हें इसमें शामिल किया जाए। हालाँकि यह भी पर्याप्त बहस का विषय है कि 'नौजवानी' की मियाद या उम्र क्या रखी जाए। तमाम बातें सामने आईं मगर यह तय हुआ कि चालीस से कम वालों को नौजवान मानते हुए उनकी ग़ज़लों को इस मज्मुआ में शामिल किया जाए।

अब इसके बाद इस संकलन की अगली चुनौती थी कि इस संकलन में किन-किन शोअरा को शामिल किया जाए। कई जानकारों से जो माहिरे फ़न हैं, उनसे गुफ़्तगू हुई। बहुत-से नाम सामने आए। जैसा कि मैंने शुरूआत में ही कहा था कि बहुत-से नाम ऐसे थे जो स्टेज पर लगातार 'बरामद' होते रहते हैं, बहुत से नाम बिल्कुल ही नए थे। स्टेज पर अपने कलाम से तालियाँ बटोरने वाले तमाम शोअरा ऐसे थे जो मकबूल तो हैं मगर उनके कलाम को अदब के हवाले से देखा जाना काफी मुश्किल है। कुछ नाम ऐसे भी थे जो देखने में अनजान-से थे मगर उनके कलाम में कशिश ऐसी कि दरबारे ग़ज़ल में अपना लोहा मनवा चुके शोअरा के भी माथे पे बल पड़ जाएँ। जनाब मंसूर उस्मानी, मोहतरम तुफ़ैल चतुर्वेदी, मोहतरम आदिल रज़ा मंसूरी, जनाब मनीष शुक्ल के साथ मश्विरा-गुफ़्तगू करके एक नतीजे पर पहुँचने की कोशिश की गयी। इसी बीच कई रिसालों-मैग्ज़ीनों को भी खँगाला गया, एडीटरान को भी परेशान किया गया। सोशल साइट्स पर भी हाथ साफ़ किए गए।

एक सच यह भी है कि रचनाकार उसी जुबान में अपने अहसासों को व्यक्त कर सकता है जिसे वह बोलता-समझता है। हम जिस नस्ल की बात यहाँ कर रहे हैं उस नस्ल की पैदाइश और परवरिश उस समय की है जब उर्दू-हिंदी के बीच की दरार की बात तो छोड़िये बोलचाल की भाषा में हिन्दी-उर्दू-अंग्रेजी की त्रिवेणी बह रही थी। ज़ाहिर है इस भाषाई 'ओवर लैपिंग' से इस दौर की ग़ज़ल का सामना हुआ और शायद इसीलिए नब्बे की दहाई में जो ग़ज़लें लिखी गयीं उनमें बोलचाल के वे तमाम शब्द शामिल किए गए जो किसी भाषा विशेष के प्रतीक होने की बजाय सहज बोलचाल के प्रतीक थे। इस दौर के शायरों का एक सच यह भी था कि इनमें से ज़ियादातर उर्दू की रस्मुलख़त और ग़ज़ल के अरूज़ से पूरी तरह वाकिफ़ नहीं थे। कई शोअरा तो ऐसे थे जिनकी तालीम बाक़ायदा अंग्रेज़ी स्कूलों में हुई, लिटरेचर उनका सब्जेक्ट भी नहीं रहा, साइंस बैकग्राउण्ड रहा लेकिन इसके बावजूद

उनका हिन्दुस्तानी तहज़ीब और जुबान से लगाव उन्हें ग़ज़ल लेखन की ओर खींच लाया।

बहरहाल! 'दस्तक' उन तमाम शोअरा को आप हज़रात के सामने लाने की महज छोटी-सी कोशिश भर है, मुमकिन है कि तमाम ऐसे शोअरा हमारी नजर से छूट गए हों जो इस मज्मुअे में शामिल होते तो यह कोशिश और बेहतर होती मगर यह मानते हुए कि हर कोशिश में गुंजाइश हमेशा बनी रहती है, और इस पर अमल करते हुए हमने अपना काम अंजाम दिया है। उन सभी शोअरा से मुआफ़ी माँगते हुए कि जिनका नाम यदि भूलवश हम शामिल न कर पाये हों। इस कोशिश को आप सब तक लाने में प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली के श्री हरीशचन्द्र शर्मा जी का विशेष रूप से शुक्रगुज़ार हूँ कि उनकी कोशिशों से बहुत ही कम समय में इस मज्मुआ का प्रकाशन मुमकिन हुआ। ये संकलन मेरी तमाम कोशिशों के बाद भी ऐसी शक्ल अख़्तियार न कर पाता अगर इसमें डॉ. लाल रत्नाकर (चित्रकार), श्री उमापति (प्रवक्ता उर्दू), अंजू सिंह (शरीक-ए-हयात) का सहयोग न मिलता। आप सब का आभारी हूँ! एक बार फिर सभी शोअरा का और ख़ासकर जनाब अक़ील नोमानी, तुफ़ैल चतुर्वेदी, मयंक अवस्थी, आदिल रज़ा मंसूरी, मनीष शुक्ला का तहेदिल से शुक्रिया!

हमारी कोशिशें आपके प्यार की मुन्तज़िर हैं.....!

–पवन कुमार

अनुक्रम

विकास शर्मा 'राज'	19
सग़ीर आलम	25
सालिम सलीम	31
ग़ालिब अयाज़	37
मुईद रशीदी	43
स्वप्निल तिवारी	49
पराग अग्रवाल	55
दिनेश नायडू	61
सैय्यद तालीफ़ हैदर	67
ज़िया ज़मीर	72
इरशाद खान सिकन्दर	78
मनोज अज़हर	84
अभिषेक शुक्ला	90
सिराज फ़ैसल ख़ान	96
गौतम राजरिशी	102
बृजेश अम्बर	108

'सज्जन' धर्मेन्द्र 114
विपुल कुमार 120
वीनस केसरी 126
अंकित सफ़र 132
आदिल रज़ा मंसूरी 137
प्रखर मालवीय 143
अमीर इमाम 149
जतिन्दर 'परवाज़' 155
पवन कुमार 161

विकास शर्मा 'राज'

जब यह मज्मुआ आप पढ़ रहे होंगे तब तक विकास शर्मा 'राज़' चालीस की सीमा पार कर चुके होंगे, मगर जब इस मज्मुअे का ड्राफ़्ट हुआ था तब वे इस दायरे के अन्दर थे। दिसम्बर 73 की पैदाइश वाले विकास नयी नस्ल के ऐसे शाइर हैं जिनकी ग़ज़लें आदमी की छटपटाहट का अहसास कराती हैं। सोनीपत (हरियाणा) के विकास शर्मा पेशे से अध्यापक हैं। उनका ग़ज़ल-संग्रह 'बारिश खारे पानी की' पहले ही काफ़ी मक़बूल हो चुका है। नयी नस्ल के सबसे ज़्यादा पोटेंशियल वाले शाइर के रूप में यदि विकास को रखा जाये तो ग़लत न होगा।

रोज़ ये ख़्वाब डराता है मुझे
कोई साया लिये जाता है मुझे

ये सदा! काश उसी ने दी हो
इस तरह वो ही बुलाता है मुझे

मैं खिंचा जाता हूँ सहरा की तरफ़
यूँ तो दरिया भी बुलाता है मुझे

देखना चाहता हूँ गुम हो कर
क्या कोई ढूँढ़ के लाता है मुझे

इश्क़ बीनाई बढ़ा देता है
जाने क्या-क्या नज़र आता है मुझे

हवा चले न चले, मश्वे-यास हो जाऊँ
चराग़ ख़ुद ही बुझाऊँ उदास हो जाऊँ

कई दिनों से अजब-सा जुनून तारी है
ख़ला को ओढ़ लूँ मैं बेलिबास हो जाऊँ

तेरी किताब में कुछ तो जगह मिले मुझको
किसी वरक़ पे कोई इक़्तिबास हो जाऊँ

कहीं क़रार न आ जाए हिज्र में मुझको
तेरे ख़तों को पढ़ूँ बदहवास हो जाऊँ

फिर उसके बाद कभी तश्नगी बुझे न तेरी
तेरे लबों पे रहूँ तेरी प्यास हो जाऊँ

मंज़िलों से भी आगे निकलता हुआ
गिर पड़ा मैं बहुत तेज़ चलता हुआ

मेरी मिट्टी भी उस दिन से गर्दिश में है
चाक तेरा है जिस दिन से चलता हुआ

धूप के हाथ अचानक ही शल हो गये
हो गया मुंजमिद मैं पिघलता हुआ

मुन्तज़िर थी उसी की समाअत मेरी
तेरे होंठों पे जो है मचलता हुआ

धूप-दरिया में खुलता है ये रास्ता
सब्ज़ पेड़ों के हमराह चलता हुआ

दिल की वादी में फिर धुंध उतरती हुई
मेरे अन्दर का मौसम बदलता हुआ

अपने हालात में बदलाव नहीं चाहता मैं
ज़ात के जिस्म पे और घाव नहीं चाहता मैं

देर तक रखती है बेसुध मुझे सोंधी ख़ुशबू
दिल! तेरी मिट्टी पे छिड़काव नहीं चाहता मैं

पहली बारिश में ही हो जाएँ हरे ज़र्द शजर
रफ़्ता-रफ़्ता कोई बदलाव नहीं चाहता मैं

याद का चाँद न उभरे तो बहुत अच्छा हो
हिज्र की रात का दुहराव नहीं चाहता मैं

इस क़दर क्यों है भरोसा मुझे इन लहरों पर
क्यों कोई तिनका कोई नाव नहीं चाहता मैं

ख़ुद वो ज़ख़्मों को सिले या मुझे मर जाने दे
और इस शर्त में बदलाव नहीं चाहता मैं।

हवा के साथ यारी हो गई है
दिये की उम्र लम्बी हो गई है

फ़क़त ज़ंजीर बदली जा रही थी
मैं समझा था रिहाई हो गई है

बची है जो धनक उसका करूँ क्या
तेरी तस्वीर पूरी हो गई है

लगाकर क़हक़हा भी कुछ न पाया
उदासी और गहरी हो गई है

मुझे मंज़िल नज़र आई है जब से
मेरी रफ़्तार धीमी हो गई है

क़रीब आ तो गया है चाँद मेरे
मगर हर चीज़ धुँधली हो गई है

सग़ीर आलम

ठाकुरद्वारा (मुरादाबाद) के सग़ीर आलम महज 32 बरस के हैं। 1981 में पैदा हुए सग़ीर ने उर्दू में पोस्ट ग्रेजुएट डिग्री हासिल की। 1996 से शायरी का शौक़ हुआ। 2000 में पहली ग़ज़ल रिसाले में छपी। तब से अब तक ग़ज़लगोई का सफर जारी है। सामान्यतया छोटी बहरों में ग़ज़लगोई करते हुए बड़ी बातें, बड़े अहसास कहने की कोशिश करते हैं।

ये अलग बात हम सफ़र में रहे
तेरे जलवे मगर नज़र में रहे

उसने छोड़ा था फ़ैसला हम पर
वो तो हम ही अगर मगर में रहे

एक तू ही नहीं था मेरे लिए
और भी मसअले नज़र में रहे

कोई तो हो जो मुझसे ये पूछे
घर में कब और कब सफ़र में रहे

ज़िन्दगी भर न हो सके अपने
ज़िन्दगी भर तेरे असर में रहे

उम्र भर ढूँढते रहे उसको
उम्र भर ख़्वाब के नगर में रहे

दिल का खोना बहुत ज़रूरी है
इश्क़ होना बहुत ज़रूरी है

जिसके सीने में दर्द ठहरा हो
उसका रोना बहुत ज़रूरी है

उससे होनी हैं ख़्वाब में बातें
मेरा सोना बहुत ज़रूरी है

सिर्फ़ यादों से घर नहीं बनता
तेरा होना बहुत ज़रूरी है

इतना आसाँ नहीं है पा लेना
पहले खोना बहुत ज़रूरी है

वो जो मुझसे मिलता नईं
शायद मुझको समझा नईं

जब तक उसको सोचा नईं
दिल का आँगन महका नईं

उसको कैसे भूलूँ मैं
अब ये मेरे बस का नईं

उसका ग़म है मेरा ग़म
मेरा ग़म क्यों उसका नईं

अब तो ऐसा लगता है
सच भी जैसे सच्चा नईं

अब तो सब ही करते हैं
प्यार किसी को होता नईं

मुझको ज़िन्दा रखता है
वो जो मुझपे मरता नईं

प्यार तुम्हीं से करते थे
तब हम कितने सच्चे थे

कैसी-कैसी रातें थीं
कैसे-कैसे सपने थे

याद है तुमको ऐ-जानाँ
हम तुम कितना हँसते थे

सब कुछ सच्चा लगता था
जब हम छोटे बच्चे थे

आँखें तेरी बरसी थीं
शाने मेरे भीगे थे

ज़र्रा ज़र्रा तड़पा था
हम दोनों जब बिछड़े थे

मुझसे कैसी ख़ता हो गई
सारी दुनिया ख़फ़ा हो गई

जब से उनकी वफ़ा हो गई
ज़िन्दगी आशना हो गई

उसको सोचा तो ऐसा हुआ
दर्द-ए-दिल की दवा हो गई

अब तो देने लगा है सुकूँ
दर्द की इन्तिहा हो गई

जो भी माँगा वही न मिला
मेरी दुश्मन दुआ हो गई

सालिम सलीम

1985 में आज़मगढ़ में जन्मे सालिम सलीम भी नयी नस्ल के होनहार शायर हैं। अलीगढ़ मुस्लिम यूनीवर्सिटी से ग्रेजुएशन करने के बाद उन्होंने जामिया और जे.एन.यू. से आगे की पढ़ाई की। वे पूरी तरह उर्दू की तरक़्क़ी के लिए ख़ुद को समर्पित कर चुके हैं। फिलहाल वे 'रेख़्ता' वेबसाइट में रिसर्च असिस्टेंट के रूप में कार्य कर रहे हैं। मो. अलवी, ज़फर इक़बाल और रईस फ़रोग को पसंद करने वाले सालिम का अभी तक कोई मज्मुआ शाया नहीं हुआ है लेकिन अगले बरस तक इसकी भी उम्मीद है। जो वे देखते हैं, महसूस करते हैं उसे व्यक्त करते हैं, इसी इज़्हार को वे शाइरी का नाम देते हैं।

न छीन ले कहीं तन्हाई डर सा रहता है
मेरे मकां में वह दीवार ओ दर सा रहता है

कभी-कभी तो उभरती है चीख़ सी कोई
कहीं-कहीं मेरे अन्दर खन्डर सा रहता है

वह आसमाँ हो कि परछाईं हो कि तेरा ख़याल
कोई तो है जो मेरा हमसफ़र सा रहता है

मैं जोड़-जोड़ के जिसको ज़माना करता हूँ
वह मुझसे टूटा हुआ लम्हा भर सा रहता है

ज़रा सा निकले तो ये शहर उलट-पलट जाये
वह अपने घर में बहुत बेज़रर सा रहता है

बुला रहा था वह दरिया के पार से एक दिन
जभी से पाँव में मेरे भँवर सा रहता है

न जाने कैसी गरानी उठाये फिरता हूँ
न जाने क्या मेरे काँधे पे सर सा रहता है

चलो सलीम ज़रा कुछ इलाज-ए-जाँ कर लें
यहीं कहीं पे कोई चारागर सा रहता है

बदन सिमटा हुआ और दश्त-ए-जाँ फैला हुआ है
सो ता हद्द-ए नज़र वहमओ गुमां फैला हुआ है

हमारे पाँव से कोई ज़मीं लिपटी हुई है
हमारे सर पे कोई आसमाँ फैला हुआ है

ये कैसी ख़ामशी मेरे लहू में सरसराई
ये कैसा शोर दिल के दरमियाँ फैला हुआ है

तुम्हारी आग में ख़ुद को जलाया था जो एक शब
अभी तक मेरे कमरे में धुआँ फैला हुआ है

हिसार-ए-ज़ात से कोई मुझे भी तो छुड़ाइये
मकाँ में क़ैद हूँ और लामकाँ फैला हुआ है

दालान में कभी, कभी छत पर खड़ा हूँ मैं
सायों के इन्तज़ार में शब भर खड़ा हूँ मैं

क्या हो गया कि बैठ गई ख़ाक भी मेरी
क्या बात है कि अपने ही ऊपर खड़ा हूँ मैं

सन्नाटा मेरे चारों तरफ़ है बिछा हुआ
बस दिल की धड़कनों को पकड़ कर खड़ा हूँ मैं

सोया हुआ है मुझमें कोई शख़्स आज रात
लगता है अपने जिस्म से बाहर खड़ा हूँ मैं

इक हाथ में है आईना-ए-ज़ात ओ काएनात
इक हाथ में लिये हुए पत्थर खड़ा हूँ मैं

काम हर रोज ये होता है किस आसानी से
उसने फिर मुझको समेटा है परेशानी से

मुझमें खुलता है तेरी याद का जब बाब-ए-तिलिस्म
तंग हो जाता हूँ एहसास-ए-फ़रावानी से

आख़िरश कौन है जो घूरता रहता है मुझे
देखता रहता हूँ आईने को हैरानी से

मेरी मिट्टी में कोई आग सी लग जाती है
जो भड़कती है तेरे छिड़के हुए पानी से

था मुझे ज़ोम कि मुश्किल से बँधी है मेरी ज़ात
मैं तो खुलता गया उस पर बड़ी आसानी से

कोई हंगामा करें सुबह के आ जाने तक
रात कटने की नहीं क़िस्सा-ए-तूलानी से

खुद अपनी ख़्वाहिशें ख़ाके बदन में बोने को
मेरा वजूद तरसता है मेरे होने को

ये देखना है कि बारी मेरी कब आयेगी
खड़ा हूँ साहिल-ए दरिया पे लब भिगोने को

अभी से क्या रखें आँखों पे सारे दिन का हिसाब
अभी तो रात पड़ी है ये बोझ ढोने को

न कोई तकिया-ए ग़म है न कोई चादर-ए ख़्वाब
हमें ये कौन सा बिस्तर मिला है सोने को

वह दूर था तो बहुत हसरतें थीं पाने की
वह मिल गया है तो जी चाहता है खोने को

ग़ालिब अयाज़

ग़ालिब अयाज़ अपनी उम्र से कहीं ज़ियादा बड़े शाइर हैं। महज़ बत्तीस बरस के ग़ालिब अयाज़ की ग़ज़लें सहरा में समन्दर हैं। उनकी ग़ज़लों में इस्तेमाल हुए अल्फ़ाज़ नयी ख़नक के साथ अपनी शिनाख़्त का अहसास कराते हैं। बेगूसराय (बिहार) से तअल्लुक रखने वाले ग़ालिब ने 19 बरस की उम्र में लिखना शुरू किया, पटना से प्रकाशित होने वाले क़ौमी तंज़ीम अख़बार में छपे। आजकल दिल्ली में SEO एक्सपर्ट हैं।

जबीन-ए-शौक़ पे गर्द-ए मलाल चाहती है
मिरी हयात सफ़र का मआल चाहती है

मैं वुसअतों का तलबगार अपने इश्क़ में हूँ
वह मेरी ज़ात में इक यर्ग़माल चाहती है

हमें ख़बर है कि उस मेहरबाँ की चारागरी
हमारे ज़ख़्मों का कब इंदिमाल चाहती है

तुम्हारे बाद मेरी आँख ज़िद पे आ गई है
वही जमाल वही ख़दओ ख़ाल चाहती है

हम उसके जब्र का किस्सा तमाम चाहते हैं
और उसकी तेग़ हमारा ज़वाल चाहती है

हरी रूतों को इधर का पता नहीं मालूम
बरहना शाख़ अबस देखभाल चाहती है

बस तेरे लिए उदास आँखें
उफ!! मस्लहत ना शनास आँखें

बेनूर हुई हैं धीरे-धीरे
आयीं नहीं मुझको रास आँखें

आख़िर को गया वह, काश रुकता
करती रहीं इल्तिमास आँखें

ख़्वाबीदा हक़ीकतों की मारी
पामाल और बद हवास आँखें

दरपेश जुनूँ का मरहला, और
फ़ाका है बदन तो प्यास आँखें

सर मेरा काम ये कर आया था
कू ए क़ातिल से गुज़र आया था

अपनी ही खोज में सरगर्दां हूँ
मैं कहाँ जा के बिखर आया था

क्या पता उसकी हैं कितनी शक्लें
रात तो आँख में भर आया था

दश्त-ए-ग़ुरबत में ख़याल आता है
घर भी दौरान-ए-सफ़र आया था

संगबारी से वह बचते-बचते
गहरे पानी में उतर आया था

शाइरी आज सर-ए-राह मिली
रंग-रूप उसका निखर आया था

कभी विसाल कभी इन्तिज़ार करते हुये
कटी हयात यही कारोबार करते हुये

वह अपने ज़ुल्म के फ़न में कमाल-ए फ़न की तरफ़
हम उनसे रिश्त-ए-दिल उस्तुवार करते हुये

बची जो उम्र तो फिर तेरे शह आयेंगे
हम अपने जख़्म-ए-तमन्ना शुमार करते हुये

गुज़र न जाये ये तजदीद-ए-अहद का मौसम
मस्लहत की फ़ज़ा साज़गार करते हुये

ज़मीं को ज़र्द लबादा पसन्द आता हुआ
फ़लक दरख़्तों को बे बर्ग-ओ-बार करते हुये

तेरी रानाई पे वारे जायें
चाँद बुझ जाये, सितारे जायें

हैं धनक रंग मनाज़िर हर सू
हम मगर तुझको निहारे जायें

जो हमें तुझसे जुदा करती हो
काश उस राह में मारे जायें

नक़्द-ए-जाँ अब किसे इरसाल करें
सर बकफ़ किसके सहारे जायें

मंजिलें ख़त्म कहाँ होती हैं
रास्ते पाँव पसारे जायें

मुईद रशीदी

1988 की पैदाइश वाले मुईद रशीदी भी बला के शाइर हैं। उनके ज़ौक़े सफ़र के बारे में यह बात कहना ग़लत नहीं होगा कि इस नौजवान ने अब तक की अपनी उम्र 'उर्दू' के दरख़्त को हरा करने में ही सर्फ़ कर दी। वालिद से ग़ज़ल पढ़ने का शौक विरासत में मिला जो बाद में ग़ज़ल कहने में तब्दील हुआ। दिल्ली में रहकर उर्दू विषय में ही पोस्टग्रेजुएशन किया और अब इसी विषय से डाक्टरेट की डिग्री पाने की तरफ़ बढ़े हुये हैं। बानी मनचन्दा, इरफ़ान सिद्दीक़ी, मुनीर, ज़फ़र इक़बाल को पसंद करने वाले मुईद को पिछले बरस ही साहित्य अकादमी का युवा कैटगरी में अवार्ड मिला। शाइरी उनकी रग-रग में यूँ बस गयी है कि हर चीज़ को वे शाइरी के ज़ाविए से देखते हैं और मज़े की बात यह कि उन्हें हर चीज़ में शायराना पहलू नज़र आता है.....बानगी देखिए।

ये मो'जिज़ा है कि मैं रात काट देता हूँ
न जाने कैसे तिलिस्मात काट देता हूँ

वह चाहते हैं कि हर बात मान ली जाये
और एक मैं हूँ कि हर बात काट देता हूँ

नमी सी तैरती रहती है मेरी आँखों में
ब इख़्तियार मैं बरसात काट देता हूँ

तिरा ख़याल ही अब मेरा इस्म-ए-आज़म है
इसी से सारे ख़यालात काट देता हूँ

ये रात काटती रहती है सुबह तक मुझको
न जाने कैसे मैं हर रात काट देता हूँ

आँधियाँ शोर मचाती हैं कि तारी हुई रात
आग रौशन हुई सीने में तो जारी हुई रात

अजनबी शहर में कुछ ख़ौफ़ सा महसूस हुआ
ओढ़ ली मैंने ख़मोशी से उतारी हुई रात

मैंने इक बार बुलाया था इसी सिम्त उसे
आज तक गूँजती रहती है पुकारी हुई रात

जादा-ए शब से गुज़रते हुए हर सुब्ह के बाद
लौट आती है मिरे जिस्म में हारी हुई रात

जाने ये कौन सी मन्ज़िल है जहाँ हिज्र न वस्ल
मुझमें बस रेंगती रहती है गुज़ारी हुई रात

मैं समझता था कि आसान रहेगी मुझ पर
पर ग़लत ठहरा कि मुझ पर बड़ी भारी हुई रात

जीना-मरना, मरना-जीना, हर पल है
फिर भी कोई अन्दर जैसे बेकल है

कैसी-कैसी रूहें चीख़ती रहती हैं
शहर नहीं आवाज़ों का एक जंगल है

दूर तलक आसेब, खंडर है यादों का
ध्यान जमा कर बैठा कोई पागल है

सर के ऊपर साया था कुछ सायों का
हम समझे थे शायद सर पर बादल है

सन्नाटों का शोर है मेरे अन्दर तक
अन्दर-बाहर, बाहर-अन्दर हलचल है

बैठ गया हूँ अपनी ज़ात के पत्थर पर
चारों ओर तमाशों का इक दलदल है

सर्द रातों में तमाज़त का सबब पूछती है
तीरगी है कि इबादत का सबब पूछती है

मैं अँधेरों की सियासत में मुलव्वस भी नहीं
रौशनी मुझसे बग़ावत का सबब पूछती है

शहर अब माँगता है साँस भी लेने का हिसाब
ज़िन्दगी मुझसे क़यामत का सबब पूछती है

मैं तो डूबा था कहीं और उभरने के लिए
मुझसे हर मौज इनायत का सबब पूछती है

जैसे इस बाब में कुछ भी नहीं मालूम उसे
ख़ामुशी ऐसे शिकायत का सबब पूछती है

लगता है तबाही मिरी क़िस्मत से लगी है
ये कौन सी आँधी मिरे अन्दर से उठी है

उस बार उजालों ने मुझे घेर लिया था
इस बार मेरी रात मेरे साथ चली है

कैसे कोई बस्ती मेरे अन्दर उतर आये
इस बार तो तन्हाई मेरी जाग रही है

कैसे कोई दरिया मेरे सीने से गुज़र जाये
रस्ते में अना की मिरी दीवार खड़ी है

वीरान हवेली की तरह अब मेरे अन्दर
भटकी हुई रूहों की सदा गूँज रही है

इस बार अँधेरा मिरी नस-नस में भरा है
इस बार चिराग़ों से शिकायत भी बड़ी है

स्वप्निल तिवारी

स्वप्निल तिवारी नयी उम्र के सबसे प्रामिसिंग (Promising) शायर हैं। उनकी शाइरी में जो चीज सबसे ज़्यादा प्रभावित करती है वह है उनकी ताज़गी। शेर पढ़िए तो लगता है कि जैसे वे शायरी नहीं पेन्टिंग कर रहे हों। महज़ 28 बरस के स्वप्निल से भविष्य में बहुत सी उम्मीदें रहेंगी। फिलहाल वे बायोटेक से ग्रेजुएशन करने के उपरान्त मुंबई के फिल्मी संसार में अपना मुकाम बनाने की कोशिश में हैं। कभी वे स्क्रिप्ट राइटर की हैसियत से अपनी मंज़िलें तलाशते हैं तो कभी शाइर की हैसियत से। यह बात अलहदा है कि उनका लक्ष्य तो फ़िल्म डाइरेक्टर बनना है। बहुत कुछ कर गुज़रने की जद्दोजहद स्वप्निल की ग़ज़लियात में भी साफ नुमांयाँ होती है। उ.प्र. के गाज़ीपुर से ताल्लुक रखने वाले इस नौजवान शाइर को प्रेरणा अपनी माँ से मिली जो हिन्दी में पी-एच.डी. हैं। अताउल्ला ख़ाँ और फिर जगजीत सिंह की ग़ज़लें सुनते हुए स्वप्निल कब ग़ज़ल लेखन की ओर मुड़े पता ही नहीं चला...। फ़िलहाल अदब को बड़ी उम्मीदें हैं इस नौजवान शाइर से!

कहे सूरज से कोई अब तो अपने रोक ले पत्थर
उड़ाता है वो रंगों को चला कर धूप के पत्थर

मेरी ये वापसी रस्तों को नामुमकिन सी लगती थी
मुझे तकते हैं हैरानी से सारे मील के पत्थर

मुहब्बत थी कि जिसने पत्थरों का जी किया हल्का
वगरना नाम में क्या था कि ऐसे तैरते पत्थर

मैं उसकी वज्ह से ही पा सका हूँ अपना ये किरदार
मेरी माँ ने बड़ी फ़ुर्सत से चावल से चुने पत्थर

यहाँ, दिल में, रहे आँखों के आँसू एक मुद्दत तक
यहाँ यादों के हैं नीले हरे काई लगे पत्थर

यही पत्थर अजन्ता में है अफ़साना निगारों सा
जो आँखों में समाअत हो सुनो जो भी कहे पत्थर

बहुत पहले लगी थी आग 'आतिश' बाग के दिल में
अभी भी मिलते रहते हैं यहाँ पे कुछ जले पत्थर

ये रोज़ सी ही उदास शब है, इसे भी यूँ ही बिता रहा हूँ
अकेले कमरे में एक बत्ती जला रहा हूँ बुझा रहा हूँ

मिरी ही जानिब तमाम मौजें बढ़ी चली आ रही हैं पल-पल
मैं इक जज़ीरे पे अपनी धुन में ग़मों की वंशी बजा रहा हूँ

खुली है माज़ी में एक खिड़की तुम्हारी यादों की कुछ दिनों से
इसी से कब से मैं एक चिड़िया को अपने घर में बुला रहा हूँ

लगाये बैठे हैं कान अपने तमाम तारे मिरी ही जानिब
मैं एक बच्चे को परियों वाला हसीन क़िस्सा सुना रहा हूँ

कहीं उदासी न जाग जाये, कहीं ख़मोशी न टूट जाये
दबा के अपनी हरेक आहट मैं अपने कमरे में जा रहा हूँ

जो जाते-जाते तमाम रस्तों पे नींद मेरी गिरा गयी है
उन्हीं अधूरे हसीन ख़ाबों को पलकों से मैं उठा रहा हूँ

उजाला आँखों में चुभ रहा है धुआँ भी आँखों में लग रहा है
ये मेरी फ़ितरत नहीं है 'आतिश' मगर दिये को बुझा रहा हूँ।

दिन के पहले ही पहर में अपना बिस्तर छोड़कर
रौशनी निकली है नींद अपनी फ़लक पर छोड़कर

रेगज़ारों का अकेलापन डराता है उसे
रेत जाये भी कहाँ आख़िर समंदर छोड़कर

वो मुसव्विर दर मुसव्विर खो रही है अपने रंग
इक धनक भटकी है कितना अपना अम्बर छोड़कर

वक़्त है अब भी मना लूँ चल के उसको एक दिन
घर निकल जायेगा वरना एक दिन घर छोड़कर

आँसुओं थोड़ी मदद मुझको तुम्हारी चाहिए
ग़म चले जायेंगे वरना दिल को बंजर छोड़कर

ख़ाब आँखें छोड़कर कहिये कहाँ जायेंगे अब?
सिलवटें क्या मर नहीं जायेंगी चादर छोड़कर?

जल उठेंगे पाँव 'आतिश' उनके छूते ही ज़मीं
ख़ाब गर उतरे मिरी आँखों का बिस्तर छोड़कर

मिलेगी राहत किसे सफ़र से
थकन तो लेकर चले थे घर से

अभी पलक पर पलक न बैठी
ये ख़ाब आने लगे किधर से

फ़लक पे कुछ देर चाँद ठहरा
विदाअ लेते हुए सहर से

बढ़े हैं दिल के सहारे ग़म, जूँ
लताएँ लग कर बढ़ीं शजर से

तवील नॉवेल में ज़िंदगी के
तमाम क़िस्से हैं मुख़्तसर-से

वो देखते-देखते ही इक दिन
उतर गया था मिरी नज़र से

धुएँ से 'आतिश' जलेंगी आँखें
जले नहीं हम इस एक डर से

वो जहाँ हैं वहीं ख़याल मेरा
मुस्तक़िल हो गया विसाल मेरा

प्यार से देखा फिर मुझे उसने
फिर से ओहदा हुआ बहाल मेरा

खो के खुद को बहुत ही खुश है ये
ऐसी दुनिया को क्या मलाल मेरा

अपनी यादों की रौशनी कम कर
इसने सोना किया मुहाल मेरा

ताकि तू रह सके ख़ुदा ...! मुझमें
मुझसे आसेब अब निकाल मेरा

आया पल भर को सर पे साया, फिर
धूप को आ गया ख़याल मेरा

तू मुझे आज़मा न और 'आतिश'
तेरा जलना भी है कमाल मेरा

पराग अग्रवाल

1982 की पैदाइश वाले पराग अग्रवाल मूलतः आर्किटेक्ट हैं। धार (म.प्र.) निवासी पराग अग्रवाल के वालिद पेशे से डॉक्टर हैं। पराग को ग़ज़ल पढ़ते-पढ़ते कहने का आज़ार लग गया। फ़िलहाल बड़ी ख़ामोशी से वे अपने काम में लगे हैं। लैण्डस्केप डिज़ाइनिंग में मास्टर्स डिग्री कर रहे हैं। पराग को 2006 से ग़ज़ल कहने की आदत पड़ी। वे वर्तमान में दिल्ली में रहते हुए डिज़ाइनिंग और शाइरी दोनों एक साथ कर रहे हैं। उनकी डिज़ाइनिंग की छाप उनकी शाइरी पर भी दिखाई पड़ती है.....मुलाहिज़ा फरमाएँ।

मैं ही जब नहीं मिला रौशनी के जिस्म में
फिर मैं किसको ढूँढता रौशनी के जिस्म में

दूर तक कोई न था रौशनी के जिस्म में
फिर मैं कैसे गूँजता रौशनी के जिस्म में

रौशनी के जिस्म में एक लकीर थी कभी
अब है एक दायरा रौशनी के जिस्म में

करने आया था रिहा रौशनी को मैं मगर
क़ैद होके रह गया रौशनी के जिस्म में

मैं भी अब नहीं वहाँ तू भी अब नहीं वहाँ
अब है कोई दूसरा रौशनी के जिस्म में

अब मुझे बता ज़रा क्या है तीरगी का राज़
ले मैं फिर से आ गया रौशनी के जिस्म में

कहकशाँ के जिस्म को कर लिया किसी ने पार
और कोई रह गया रौशनी के जिस्म में

नदी की सतह पे देखी जो धुंध उभरती हुई
लगा के जैसे कोई रौशनी है मरती हुई

ठिकाना उसका मेरे बाम की मुंडेर पे है
वो एक शै जो है फ़िरदौस से गुज़रती हुई

मेरा वजूद सँवारा अभी-अभी उसने
अभी तो देखी थी मैंने वह शै बिखरती हुई

तेरे बदन की तरफ़ फिर से लौट आई है
मिरे बदन से तिरी रौशनी गुजरती हुई।

ज़रूर शब के कुछ आसेब उसके पीछे थे
सहर ज़मीन पे आई है साँस भरती हुई

सहर का नंगा बदन चीख़ता रहा शब भर
कि शाम देख ले अपनी क़बा उतरती हुई

सर पे जो है ये आसमां, ये भी कोई तिलिस्म है
और जो है ये दरमियाँ, ये भी कोई तिलिस्म है

मैं हूँ क़रीब ए लामकां, लगता है फिर भी ये मुझे
दूर है मुझसे लामकां, ये भी कोई तिलिस्म है

मेरे बदन में खो गया, ये तेरा जिस्म-ए-आतिशीं
छा गया हर तरफ धुआँ, ये भी कोई तिलिस्म है

एक मेरा दयार था, सबके यहाँ वहाँ से दूर
कैसे हुआ यहाँ वहाँ, यह भी कोई तिलिस्म है

ठहरा हुआ वजूद है, बूद-ओ-नाबूद में मिरा,
और बदन रवाँ दवाँ, ये भी कोई तिलिस्म है

जिस्म के टुकड़े हो गये, और है पारा-पारा रूह
और मैं फिर भी शादमाँ, ये भी कोई तिलिस्म है

मेरी वो गर्द-ए-कारवाँ, उड़ती है ज़ेहन में तिरे
मुझमें है तेरा कारवाँ, ये भी कोई तिलिस्म है

जो यक़ीं से और गुमाँ से रौशनी गुज़री नहीं
इसका मतलब जिस्मो जाँ से रौशनी गुज़री नहीं

हर जगह देखी हुई है, घर हो या हो आसमां
जानता हूँ मैं कहाँ से, रौशनी गुज़री नहीं

कैसे रंगीं हो गया था फिर तेरा क़ौस-ए कुज़ा
जब कि मेरे आसमां से, रौशनी गुज़री नहीं

कैसे रौशन हो गये हैं, फिर नवाह-ओ-शशजिहात
के अभी तो लामकां से रौशनी गुज़री नहीं

मैं वहाँ होता, जहाँ ठहरी हुई थी तीरगी
या वहाँ होता जहाँ से रौशनी गुज़री नहीं

कभी गहरा कभी उथला निकाला
हवा के जिस्म से दरिया निकाला

किसी ने जिस्म से चेहरा निकाला
किसी ने अक्स से शीशा निकाला

बदन कर दफ़्न अपना कहकशां में
ख़ला से आपका साया निकाला

निकाला आख़िरी को सबसे पहले
फिर उसके बाद में दूजा निकाला

मिलाया बीच से दोनों सिरों को
फिर उसके बीच से आधा निकाला

मुझे हैरत हुई जब उसने मेरे
बदन से आपका साया निकाला

दिनेश नायडू

नौजवान शाइरों की फ़ेहरिस्त में दिनेश नायडू भी एक दुलारा नाम है। इंजीनियरिंग बैकग्राउण्ड वाले दिनेश भिलाई (छत्तीसगढ़) के रहने वाले हैं। मैकेनिकल इंजीनियरिंग करने के बाद वे मैहर (म.प्र.) स्थित एक सीमेन्ट फ़ैक्ट्री में कार्यरत हैं। कॉलेज के दिनों से लेखन में रुचि जगी बाद में ग़ज़ल लेखन की ओर मुख़ातिब हुए। जॉन एलिया, फ़ैज़, तुफ़ैल चतुर्वेदी को पसन्द करने वाले दिनेश को जीवन की सच्चाइयाँ व आस पास घटने वाली चीज़ें ही ग़ज़ल लिखने को प्रेरित करती हैं। फुटकर तौर पर दिनेश पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। अपनी माँ को इस शौक को लगाने की प्रेरणास्रोत मानने वाले दिनेश की ग़ज़लें यक़ीनन आपको भी आकर्षित करेंगी।

तेरे सिवा कुछ सोच न सकने वाला मैं
पल-पल तेरे ध्यान में रहने वाला मैं

मौसम के ढब लिखने-पढ़ने वाला मैं
ख़ुद को ख़ुद ही शाइर कहने वाला मैं

कुहरा जैसे तल्ख धुआँ हो सिगरेट का
और सहर के हाथ में जलने वाला मैं

आख़िर तेरे दर पर आ कर बैठ गया
था दश्तओ-सहरा में भटकने वाला मैं

लम्हा-लम्हा रंग बदलने वाला तू
लम्हा-लम्हा जुड़ने-बिखरने वाला मैं

तेरी याद दिलाने वाली सूनी शाम
और अकेले रोने-हँसने वाला मैं

नदियाँ जा कर सागर से मिल जायेंगी
सोच यही हर वक़्त बरसने वाला मैं

रात गहरी हुई है आँसू से
शम्मा भी बुझ रही है आँसू से

मेरे अंदर जो चुप थी तन्हाई
आजकल बोलती है आँसू से

वरना सहरा न हो गया होता
मेरे घर में नमी है आँसू से

अब्र का ग़म किसी ने क्या जाना
झील, दरिया, नदी है आँसू से

ये धुआँ ज़िंदगी का है यारो
मेरी सिगरेट जली है आँसू से

लफ़्ज़ में वरना कोई मानी क्या
शाइरी शाइरी है आँसू से

मैं अकेला कभी नहीं रहता
अब मिरी दोस्ती है आँसू से

जब शह्र में कोई भी मिरा अपना घर न था
हाँ था मगर मैं इतना कभी दर-ब-दर न था

लड़ता रहा मैं आख़िरी दम तक अँधेरे से
लेकिन निगाह में कभी ख़्वाबे-सहर न था

यूँ तो हज़ारों लोग मिले मुझको राह में
उस हमसफ़र सा और कोई हमसफ़र न था

उसके बस एक लम्स से शाइर हुआ हूँ मैं
सच कह रहा हूँ मुझमें कोई भी हुनर न था

कोई भी नींद अपनी कभी ख़्वाब भर न थी
कोई भी ख़्वाब अपना कभी नींद भर न था

मुझको किसी निगाह ने बख़्शे हज़ार गुल
सहरा में वैसे हद्द-ए-नज़र तक शजर न था

जब दिल किया तो मैंने सफ़ीने डुबो दिए
दरिया तो शांत था कहीं उसमें भँवर न था

आँखें तुम्हारी देखना
फूलों की क्यारी देखना

छूकर उसे बोली सहर
बाद-ए-बहारी देखना

उससे मिला हूँ, पी कहाँ
लेकिन ख़ुमारी देखना

सीने पे मेरे वार हो
मेरे शिकारी देखना

इक दिल पड़ा है राह पे
अपनी सवारी देखना

हैं चंद लम्हे वस्ल के
तुम पर उधारी, देखना

सीने में झरना क़ैद है
तुम आबशारी देखना

दबा हुआ मिरे सीने में जो ये नाला है
तमाम शहर में सैलाब लाने वाला है

भले चमक तो रहा है अभी फ़लक पर वो
मगर ये शम्स किसी रात का निवाला है

ये तेरी रौनकें हैं या है मेरा अंधापन
'अँधेरा है कि तिरे शह्र में उजाला है'

मुझे कमी कभी खलती नहीं तेरी जानां
ग़ज़ल को मैंने तेरे रूप में ही ढाला है

गली में आ गया हूँ तेरी और बैठा हूँ
मिरे लिए यही मस्जिद यही शिवाला है

भला उसे भी कोई और रोग होगा क्या
तुम्हारे नाम की जपता रहा जो माला है

जो ख़्वाब तेरे बिना हो गये थे लावारिस
बना के मैंने भी औलाद उनको पाला है

सैय्यद तालीफ़ हैदर

(41)

बस एक शै मेरे अन्दर तमाम होती हुई
मेरी हिकायत-ए जाँ सुस्त गाम होती हुई

मैं रात अपने बदन की सदा से लड़ता हुआ
और उसकी ख़ामुशी महवए कलाम होती हुई

ये हिरसा-ए शब हो या कोई हवाए हस्ती हो
जो रोज़-रोज़ है यूँ बे लगाम होती हुई

बदी बड़ी ही अदा से जहाने हस्ती में
ख़राब होते हुए नेकनाम होती हुई

अजीब रंग बदलती हुई मिरी दुनिया
ब ज़ेर शाम सफ़र नील गाम होती हुई

दर्द आमेज़ है कुछ यूँ मिरी खामोशी भी
रास आती नहीं मुझको ये खिरद पोशी भी

कैसी हैरत है कि एक रौ में है ज़हने दुनियाँ
क्या तअज्जुब है कि छाती नहीं मदहोशी भी

याद का कौन सा आलम है कि मैं मरता हूँ
और ज़िन्दा है मेरी ख़्वाब फ़रामोशी भी

किस की आँखों का नशा है कि मेरे होंठों को
इस क़दर तर नहीं कर सकती बला नोशी भी

मैं किनारा भी करूँ ख़ुद से तो मुमकिन है कहाँ
कि न हो तेरे तअल्लुक़ से हम आग़ोशी भी

सवाल क्या है जवाब क्या है
ये उज़्र ख़ाना ख़राब क्या है

मैं अपनी हस्ती बदल रहा हूँ
ये सब हिसाबओ किताब क्या है

तेरी मोहब्बत के नाम सब कुछ
मेरा कोई इंतिसाब क्या है

किनारा ख़ुद से ही कर लिया है
अब और हदे इज्तिनाब क्या है

सफ़र ही बस कारए ज़िन्दगी है
अज़ाब क्या है, सवाब क्या है

तमाम शह्र ही तेरी अदा से क़ायम है
हुसूले कारगह-ए-ग़म दुआ से क़ायम है

तसल्सुल इसके सिवा और क्या हो मिट्टी का
ये इब्तिदा भी मेरी इन्तिहा से क़ायम है

ख़ुदा वुजूद में है आदमी के होने से
और आदमी का तसल्सुल ख़ुदा से क़ायम है

तमाम जोश-ए-मोहब्बत तमाम हिरस-ओ-हवस
वफ़ा के नाम पे हर बेवफ़ा से क़ायम है

ये फ़ासला फ़क़त एक रेत की नहीं दीवार
तेरे वुजूद से मेरी अना से क़ायम है

आहिस्ता रवी शहर को काहिल न बना दे
ख़ामोशी-ए ग़म ख़्वाब का मायल न बना दे

इतना भी मोहब्बत को न सोचे मेरी हस्ती
ये मोजिज़ा-ए फ़िक्र कहीं दिल न बना दे

ईसा नहीं फिर भी मुझे अन्देशा है खुद से
हस्ती मेरी कुछ शोबदै-ए गुल न बना दे

इस तरह तुझे इश्क़ किया है कि ये दुनिया
हमको ही कहीं इश्क़ का हासिल न बना दे

मैं उससे समन्दर ही कोई माँगता लेकिन
डर था वह कहीं फिर कोई साहिल न बना दे

ज़िया ज़मीर

1977 में पैदा हुए ज़िया ज़मीर ने जब अपनी आँखें खोलीं तो अपने आपको किताबों से घिरा पाया। शाइर ज़मीर दरवेश का बेटा शाइरी के अलावा और सीखता भी क्या.....। वालिद से यह हुनर विरसे में मिला और ज़िया ने उस हुनर में कमी भी नहीं आने दी। यूँ तो वे इन्कम टैक्स और सेल्स टैक्स से जुड़े और वकालत का काम शुरू कर दिया लेकिन उनकी रूह ग़ज़ल से ऐसी जुड़ी है कि हर वक़्त हर चीज़ में वे ग़ज़ल का ही पहलू तलाशते हैं। अब तक उनके दो मज्मूए शाया हो चुके हैं। 'ख़्वाब ख़्वाब लम्हें' (2010) और 'दिल मदीने में है' (2014)। ग़ालिब मीर, अहमद फ़राज़, बशीर बद्र को पसंद करने वाले ज़िया ज़मीर दुष्यंत, निराला, पंत, महादेवी वर्मा के भी उतने ही मुरीद हैं। उनकी शाइरी इंसानी तकाजों की शाइरी है। मर्द-औरत के बीच रिश्ते और बदलते वक़्त में उन रिश्तों के बीच आ रही टीस को, बिखराव को वे अपनी शाइरी का हिस्सा बनाने से नहीं चूकते।

दर्द की शाख़ पे इक ताज़ा समर[1] आ गया है
किस की आमद है 'ज़िया', कौन नज़र आ गया है

जाने किस जुर्म की पाई है सज़ा पैरों ने
इक सफ़र ख़त्म पे है अगला सफ़र आ गया है

लहर खुद पर है पशेमान[2] कि उसकी ज़द में
नन्हें हाथों से बना रेत का घर आ गया है

दर्द भी सहना, तबस्सुम भी लबों पर रखना
मरहबा इश्क़! हमें भी यह हुनर आ गया है

उसकी आँखों में नहीं पहली सी चाहत लेकिन
यह भी क्या कम है कि वो लौट के घर आ गया है

ज़िन्दगी रोक के अक्सर यही कहती है मुझे
तुझको जाना था किधर और किधर आ गया है

1. फल, 2. शर्मिन्दा

ये जो हैं ज़ख्म, मसाफ़त[1] के ही पाले हुए हैं
बैठे-बैठे भी कहीं पाँव में छाले हुए हैं

कोई आसाँ है भला रिश्ते को क़ायम रखना
गिरती दीवार है, हम जिसको सम्भाले हुए हैं

उनको दुनिया ने हमेशा ही अँधेरे बख़्शे
लोग, वो जिनसे ज़माने में उजाले हुए हैं

दुश्मनी के लिए आमादा[2] पड़ोसी है मगर
एक हम ही हैं जो इस बात को टाले हुए हैं

यूँ अकड़ते हैं कि पा ली हो जहाँ की दौलत
कैसे मग़रूर तिरे चाहने वाले हुए हैं

क्या ग़ज़ब है कि सिमटने लगी जब रात 'ज़िया'
तब कहीं जाके चराग़ों में उजाले हुए हैं

1-यात्रा, 2-आतुर

तक रहा है तू आसमान में क्या
है अभी तक किसी उड़ान में क्या

वो जो इक तुझको जाँ से प्यारा था
अब भी आता है तेरे ध्यान में क्या

हम तो तेरी कहानी लिख आये
तूने लिक्खा है इम्तिहान में क्या

हो ही जाते हैं जब जुदा दोनों
फिर तअल्लुक़ है जिस्म-ओ-जान में क्या

क्या नहीं होगी फिर मेरी तकमील[1]
कोई तुझ सा नहीं जहान में क्या

हम क़फ़स[2] में हैं, उड़ने वाले बता
है वही लुत्फ़ आसमान में क्या

1-पूर्ण होना, 2-क़ैद, पिंजर

अगर वो ख़्वाब नये हमसफ़र के देखते हैं
तो हम भी अहद-ए-वफ़ा से मुकर के देखते हैं

न पूछ हमसे मसाफ़त[1] है किस अज़ाब का नाम
सफ़र में रहते हैं और ख़्वाब घर के देखते हैं

तुम्हारे चेहरे पे जज़्बों का कोई रंग नहीं,
सो इसमें जज़्बों के कुछ रंग भर के देखते हैं

ज़मीं के बस में नहीं है समेटना हमको
तो आसमान पे अब के बिखर के देखते हैं

अजब है उसका करिश्मा, जिधर से वो गुज़रे
गुज़रने वाले उधर से गुज़र के देखते हैं

सज़ा न जिसकी अभी तक किसी ने तय की हो
गुनाह ऐसा अछूता सा करके देखते हैं

1-यात्रा

हमने जुनून-ए-इश्क़ में कुफ़्र ज़रा नहीं किया
उससे मुहब्बतें तो कीं, उसको ख़ुदा नहीं किया

उम्र हुई कि देखकर नींद उचट गयी थी, हाँ
आँख ने फिर कभी रक़म ख़्वाब नया नहीं किया

तुझसे कहा था ख़ुश्बूएँ उसके बदन की लाइयो
मेरा यह काम आज तक तूने सबा नहीं किया

कैसे कहूँ कि दोस्ती तुमने निभाई दोस्तो
तुमने कुरेद कर कोई ज़ख़्म हरा नहीं किया

हम सा भी इस जहान में होगा न कोई यर्ग़माल[1]
क़ैद से उसकी आज तक खुद को रिहा नहीं किया

सोच रखा था इश्क़ से रंग भरेंगे शेर में
दिल ने मगर नहीं किया, इश्क़ 'ज़िया' नहीं किया

1-बन्धक

इरशाद खान सिकन्दर

आज की दुनिया में कोई शाइर यह दावा करे कि उसने किसी स्कूल या डिग्री कॉलेज से तालीम नहीं ली तो यह अजीब सा लगेगा....मगर इरशाद खान 'सिकन्दर' के बारे में यही सच है। उन्होंने किसी स्कूल से कोई शिक्षा नहीं ली, अभी तक वे ठीक तरीके से दसवीं पास होने का दावा भी नहीं कर सकते। उनकी सारी पढ़ाई फुटकर हुई है जब हालात ने मौक़ा दिया पढ़ लिया जब वक्त मुश्किल हुआ तो कुछ और कर निकले। 'मसि-कागद छुयौ नहिं.....' वाली कहावत पर अमल करते हुए वे आगे बढ़ रहे हैं और उनके साथ ऐसा हो भी क्यों ना, वो हैं भी तो संत कबीर नगर के। वे स्वयं को इस इलाके के शाइरों की जमात में 'इकलौता पौधा' मानते हैं। नामालूम यह कितना सच है मगर यह ज़रूर सच है कि वे नयी नस्ल के सबसे सब्ज़ और लहलहाते हुए पौधे हैं। फिलहाल हिन्दी, भोजपुरी फिल्मों में गीत-लेखन का काम जारी है।

बहुत चुप हूँ कि हूँ चौंका हुआ मैं
ज़मीं पर आ गिरा उड़ता हुआ मैं

बदन से जान तो जा ही चुकी थी
किसी ने छू लिया ज़िन्दा हुआ मैं

न जाने लफ़्ज़ किस दुनिया में खो गये
तुम्हारे सामने गूँगा हुआ मैं

भँवर में छोड़ आये थे मुझे तुम
किनारे आ लगा बहता हुआ मैं

बज़ाहिर दिख रहा हूँ तन्हा-तन्हा
किसी के साथ हूँ बिछड़ा हुआ मैं

चला आया हूँ सहराओं की जानिब
तुम्हारे ध्यान में डूबा हुआ मैं

अब अपने आपको खुद ढूँढता हूँ
तुम्हारी खोज में निकला हुआ मैं

आँखों की दहलीज़ पे आकर बैठ गयी
तेरी सूरत ख़्वाब सजाकर बैठ गयी

कल तेरी तस्वीर मुकम्मल की मैंने
फ़ौरन उस पर तितली आकर बैठ गयी

ताना-बाना बुनते-बुनते हम उधड़े
हसरत फिर थककर ग़श खाकर बैठ गयी

खोज रहा है आज भी वो गूलर का फूल
दुनिया तो अफ़वाह उड़ाकर बैठ गयी

रोने की तरकीब हमारे आयी काम
ग़म की मिट्टी पानी पाकर बैठ गयी

वो भी लड़ते-लड़ते जग से हार गया
चाहत भी घर-बार लुटाकर बैठ गयी

बूढ़ी माँ का शायद लौट आया बचपन
गुड़ियों का अम्बार लगाकर बैठ गयी

मैं उसकी बात करता हूँ तो लह्जा भीग जाता है
अगर ख़ामोश हो जाऊँ तो, चेहरा भीग जाता है

यही दिन थे कि उससे मिल के कलियाँ खिलने लगती थीं
यही दिन हैं कि आँखों का किनारा भीग जाता है

हमीं सूरज की हर मेहनत पे पानी फेर देते हैं
हमारे रू-ब-रू होते ही सहरा भीग जाता है

छतें कितनी भिगोई होंगी तूने ऐ मेरे बादल
तुझे क्या इल्म कब इक बन्द कमरा भीग जाता है?

वो मुझसे पूछते हैं क्या नया है इस कहानी में
कोई मीरा तड़पती है तो कान्हा भीग जाता है

लिपटना उसका परदे से मेरा कहना खुदा हाफ़िज़
उसी पल देखता हूँ सारा परदा भीग जाता है

मेरे माज़ी की अलमारी से कुछ ऐसे भी ख़त निकले
जिन्हें छू लूँ नज़र भर तो लिफ़ाफ़ा भीग जाता है

छाँव, अफ़सोस! दायमी न रही
धूप का क्या? रही, रही, न रही

आसरा छिन गया है जीने का
आस थी जो, रही-सही न रही

हो गया ख़्वाब, फूल सा चेहरा
शाख़े-दिल भी, हरी-भरी न रही

बह गये आँसुओं के दरिया में
आपकी बात, याद ही न रही

इक उदासी थी, रात थी, हम थे
और फिर हाजत-ए-ख़ुशी न रही

मशवरा जस का तस रहा लेकिन
मशवरों की कभी कमी न रही

वाक़ेआ जो हुआ, हुआ लेकिन
दास्ताँ आपसे जुड़ी न रही

दुनिया के दाँव-पेंच में उलझा हुआ बदन
हम हैं कहीं तो है कहीं रक्खा हुआ बदन

इक भूली याद सुबह की घर लौटी शाम को
काम आया आख़िरश यही टूटा हुआ बदन

दो-चार लफ़्ज़ में उसे कैसे समेटें हम
देखा है आज हमने वो बिखरा हुआ बदन

ऊँची इमारतों की बिना डालता रहा
ग़ुरबत के भारी बोझ से दोहरा हुआ बदन

गंगा में डुबकियों से अजी ख़ाक होगा पाक
दिन दूना रात चौगुना मैला हुआ बदन

एहसास जगमगाए ख़यालों के नूर से
देखा जो रात चाँद का खिलता हुआ बदन

आँखों में तैरता रहा अश्कों के साथ-साथ
शब भर तिरा चराग़ सा जलता हुआ बदन

मनोज अज़हर

मुरादाबाद से ताल्लुक रखने वाले मनोज अज़हर की पैदाइश 1978 की है। उनके ज़ौको-सफ़र के बारे में कहा जा सकता है कि पहले उन्होंने हिन्दी में कविता लिखना शुरू किया जो बाद में वक़्त के साथ उर्दू ग़ज़ल में तब्दील हो गया। अंग्रेज़ी में पोस्टग्रेजुएशन करने के बाद एजूकेशन की गोद में जा बैठे। फ़िलवक़्त वे एक कोचिंग इन्स्टीट्यूट चला रहे हैं, मंज़िलें कुछ और भी हैं। मंसूर उस्मानी, अक़ील नोमानी जैसे शाइरों की संगत में ग़ज़ल को तराशने का मौक़ा मिला। जॉन एलिया, अहमद फ़राज़ और राहत इन्दौरी को पढ़ने वाले मनोज को ग़ज़ल कहना बेहद पसंद है।

तेरी मन्नत में था लेकिन मिला नईं
मैं फिर इंसान हूँ कोई खुदा नईं

तलाश-ए-ज़ात[1] में निकला था इक दिन
उसी दिन से मेरा कोई पता नईं

तुम्हारे काम की होगी ये दुनिया
यहाँ कुछ भी हमारे काम का नईं

कोई उसकी ख़बर हो तो सुनाओ
मेरा हालाँकि उस से वास्ता नईं

मुझे खुद से तेरी बू आ रही है
तो क्या मुझमें मिरा कुछ भी बचा नईं

1-तलाश-ए-ज़ात=ख़ुदा की तलाश

मौत की झोली में अब तक की उदासी डाल दें
या अभी अच्छे दिनों की बात कहकर टाल दें

ऐ वफ़ा! इस चाक-दामानी[1] से मत उम्मीद रख
चाहते हम भी थे तुझको रेशमी रूमाल दें

मेरी मुश्किल ये कि मैं इक मोम का पुतला नहीं
उनको ये ज़िद है मुझे साँचे में अपने ढाल दें

रूह कब तक जिस्म के इस बोझ को ढोती फिरे
जी में आता है कि इस मिट्टी पे मिट्टी डाल दें

वक़्त तू सुधरे तो हम कुछ और मोहलत दें तुझे
ये बता दें और कितने दिन महीने साल दें

1-चाक-दामानी=फटा हुआ दामन

रात साये से भी झगड़ा कर लिया
खुद को बिल्कुल ही अकेला कर लिया

एक बस तेरी तवज्जो के लिए
हमने खुद को ही तमाशा कर लिया

साथ अब तो जिस्म भर का साथ है
दिल ने कबका खुद को तन्हा कर लिया

हाथ मलते रह गए सारे भँवर
और कश्ती ने किनारा कर लिया

रात बेसुध होके सोएगी यहाँ
इसलिए सूरज ने पर्दा कर लिया

यूँ हँसकर बात करना हर किसी से
बहुत मायूस हो क्या ज़िन्दगी से

मेरी आँखों में आँखें डाल देना
कभी जो ऊब जाऊँ ज़िन्दगी से

न जाने कितनी नदियाँ पी चुका है
समंदर अब तो बाज़ आ तश्नगी से

ये इक दिन मौत से सौदा करेगी
ज़रा होशियार रहना ज़िन्दगी से

अँधेरी रात और यादों का जंगल
उसे ढूँढो यहाँ आवाज़ ही से

कहीं कुछ जानवर ये कह रहे थे
तवक़्क़ो[1] ये नहीं थी आदमी से

1-तवक़्क़ो=उम्मीद

काँच के ही सही कुछ ख़्वाब तो पाले जायें
दिल के हालात बहरहाल सँभाले जायें

सीपियों-सी तिरी पलकें भी तो खुलती होंगी
क्यूँ कहीं जाके समंदर ही खँगाले जायें

बच के जाएँगे कहाँ यूँ भी तिरे सादा मिज़ाज
और इस ज़ुल्फ़ में अब पेच न डाले जायें

नींद ऐसी कि मेरे ख़्वाब हों धज्जी-धज्जी
ख़्वाब ऐसे कि मेरी नींद उड़ा ले जायें

जिस्म भी क्यूँ न बिछा जायें तेरे कूचे में
ख़ाक है ख़ाक को अब साथ में क्या ले जायें

अभिषेक शुक्ला

1987 में उ.प्र. के बस्ती में जन्मे अभिषेक शुक्ला भी जदीदतर शाइरों की जमात में सबसे रौशन सितारे हैं। पहले हिन्दी कवि सम्मेलनों में गए, उर्दू स्टेज पर जाने का मौका मिला तो उर्दू शाइरी से तार जोड़ बैठे। लखनऊ में रहते हुए, भारत भूषण पंत, खुशवीर सिंह 'शाद' और मनीष शुक्ला की सोहबत का असर रहा कि उनकी शाइरी वक़्त के साथ मैच्योर होती चली गयी। मात्र 26, 27 साल की उम्र में उनकी शायरी 'मैच्योरिटी' के उस लेवल को छूती है जिसे पाने के लिए लम्बी उम्र जीनी पड़ती है। क्लासिकल शाइरों को पढ़ने के साथ-साथ वे जदीद शाइरों के कलाम का भी लुत्फ़ उठाते हैं। जनाब फरहत एहसास के वे बड़े मुरीद हैं। फिलहाल बैंक की नौकरी के साथ अदब की दुनिया में स्थापित होने की कशमकश जारी है। कई इण्टर नेशनल मुशायरों में अपनी धाक जमा चुके हैं। अभी तक कोई मज्मुआ शाया नहीं हुआ है। शाइरी अपना मुस्तकबिल इस शाइर में तलाश ले तो ग़लत नहीं होगा।

मैं खिरदमंद रहूँ या तिरा वहशी हो जाऊँ
जो भी होना है मुझे इश्क़ में जल्दी हो जाऊँ

ज़िन्दगी चाक की गर्दिश के सिवा कुछ भी नहीं
मैं अगर कूज़ागरी छोड़ दूँ मिट्टी हो जाऊँ

फिर से ले जाए मेरी ज़ात से तू इश्क़ उधार
और मैं फिर से तेरे हुस्न पे बाकी हो जाऊँ

कोई दम तू मेरे चेहरे पे खुशी बनके उभर,
कोई दम मैं तेरे चेहरे की उदासी हो जाऊँ

या तो दरिया में बदल जाऊँ कि लहरें उठें
या बगूलों का कहा मान लूँ आँधी हो जाऊँ

उसकी जानिब से कोई हिज्र मुझे आ के लगे
और मैं मार्का-ए-इश्क़ में जख़्मी हो जाऊँ

जब्र की तरह कोई जब्र करूँ अपने साथ
क्यों न कुछ देर को मैं अपने पे हावी हो जाऊँ

गर्द-ए-शब गर्द-ए-सहर मैंने उड़ाई है बहुत
वो मुसाफ़िर हूँ जिसे आबलापाई है बहुत

किसको है ताब यहाँ तुझसे दुबारा बिछड़े
ज़िन्दगी भर के लिए एक जुदाई है बहुत

इक तसव्वुर ही लुटा दूँ तो यह दुनियाँ मिल जाये
इन दिनों ज़ेहन-ए-परेशाँ की कमाई है बहुत

मैं बज़िद था के वस अब कुछ न सुनूँगा वरना
शब भर आवाज़-सी आवाज़ तो आई है बहुत

न हुआ मैं तो वो किस दर्जा परेशाँ होगा
मेरे होने की ख़बर जिसने उड़ाई है बहुत

उसके आगे न तो ग़ालिब की चली है न मिरी
जब कि हम दोनों ही ने 'बात बनाई है' बहुत

वहशतें हद से जियादा भी हमीं रखते हैं
दिल ए वहशी तुझे सीधा भी हमीं रखते हैं

आईने टूट के मिलते हैं हमीं से यानी
इस भरे शह्र में चेहरा भी हमीं रखते हैं

ये जो गलियों में तेरी ख़ाक बने फिरते हैं हम
सच बतायें तो यह सौदा भी हमीं रखते हैं

जान देने पे उतारू हैं हर इक लम्हा हमीं
खुद को हर हाल में ज़िन्दा भी हमीं रखते हैं

पहले रखते हैं कड़ी धूप पे हम धूप की सिल
और फिर साये पे साया भी हमीं रखते हैं

हम से ले जाओ ये तन्हाई बड़े काम की है
ख़ैर रखने को तो दुनिया भी हमीं रखते हैं

जी में आता है के बिक जायें किसी रोज़ मगर
खुद को बाज़ार में महँगा भी हमीं रखते हैं

अपनी जैसी ही किसी शक्ल में ढालेंगे तुम्हें
हम बिगड़ जायेंगे इतना कि बना लेंगे तुम्हें

अपनी आँखों में धुआँ करके तो मुश्किल होगी
अपने सीने पे बहरहाल बुझा लेंगे तुम्हें

मुझमें पैवस्त हो तुम यूँ कि ज़माने वाले
मेरी मिट्टी से मेरे बाद निकालेंगे तुम्हें

फ़ैसला कर ही लिया हमने अगर मिटने का
कासा-ए-जिस्म में थोड़ा-सा बचा लेंगे तुम्हें

जाने क्या कुछ हो छुपा तुममें मोहब्बत के सिवा
हम तसल्ली के लिए फिर से खँगालेंगे तुम्हें

ये ज़मीं कुछ भी नहीं और ये जहाँ कुछ भी नहीं
हम अगर चाहें तो इक जस्त में जा लेंगे तुम्हें

हमने सोचा है कि इस बार जुनूँ करते हुए
ख़ुद को इस तरह से खो देंगे कि पा लेंगे तुम्हें

अभी तो आप ही हाइल है रास्ता शब का
करीब आये तो देखेंगे हौसला शब का

चली तो आयी थी कुछ दूर साथ-साथ मिरे
फिर उसके बाद खुदा जाने क्या हुआ शब का

मेरे ख़्याल के वहशत कदे में आते ही
जुनूँ की नोक से फूटा है आबला शब का

सहर की पहली किरन ने उसे बिखेर दिया
मुझे समेटने आया था जब खुदा शब का

ज़मीं पे आके सितारों ने यह कहा मुझसे
तेरे क़रीब से गुज़रेगा क़ाफ़िला शब का

सहर का लम्स मिरी ज़िन्दगी बढ़ा देता
मगर गराँ था बहुत मुझपे काटना शब का

सिराज फ़ैसल ख़ान

1991 की पैदाइश वाले युवा शाइर सिराज फ़ैसल ख़ान शाहजहाँपुर ज़िले से ताल्लुक़ रखते हैं। बी.एस.सी. बायो एवं बी.एड. करने के बाद फ़िलहाल कम्पटीशन की तैयारी कर रहे हैं। इनके ख़ानदान में शाइरी का कोई माहौल नहीं है फिर भी जगजीत सिंह की ग़ज़लें सुनते-सुनते ग़ज़ल के दामन को थाम लिया। इनके वालिद शाहजहाँपुर में ही संग्रह अमीन के पद पर कार्यरत हैं। इनका कोई मज्मुआ अभी तक मन्ज़र-ए आम पर नहीं आया है। यह मयंक अवस्थी से गाहे-बगाहे इस्लाह भी लेते रहते हैं। राहत, बशीर बद्र, शकेब जलाली को पढ़ना पसंद करते हैं।

तेरे एहसास में डूबा हुआ मैं
कभी सहरा कभी दरिया हुआ मैं

तिरी नज़रें टिकी थीं आसमाँ पर
तिरे दामन से था लिपटा हुआ मैं

खुली आँखों से भी सोया हूँ अक्सर
तुम्हारा रास्ता तकता हुआ मैं

ख़ुदा जाने के दलदल में ग़मों के
कहाँ तक जाऊँगा धँसता हुआ मैं

बहुत पुरख़ार थी राह-ए मुहब्बत
चला आया मगर हँसता हुआ मैं

कई दिन बाद उसने गुफ़्तगू की
कई दिन बाद फिर अच्छा हुआ मैं

मुल्क को तक़्सीम करके क्या मिला है
अब भी जारी नफ़रतों का सिलसिला है

क्यों झगड़ते हैं सियासी चाल पर हम
मुझको हर हिन्दोस्तानी से गिला है

दी है क़ुर्बानी शहीदों ने हमारे
मुल्क तोहफ़े में हमें थोड़ी मिला है

हुक्मरानों ने चली है चाल ऐसी
आम लोगों के दिलों में फ़ासिला है

अब नज़र आता नहीं कोई मुहाफ़िज़
हाँ, लुटेरों का मगर इक क़ाफ़िला है

लुट रहा है मुल्क अब अपनों के हाथों
सोचिये आज़ाद होकर क्या मिला है।

कोई टोपी तो कोई अपनी पगड़ी बेच देता है
मिले गर भाव अच्छा जज भी कुर्सी बेच देता है

तवाइफ़ फिर भी अच्छी है कि वो सीमित है कोठे तक
पुलिस वाला तो चौराहे पे वर्दी बेच देता है

जला दी जाती है ससुराल में अक्सर वही बेटी
कि जिस बेटी की ख़ातिर बाप किडनी बेच देता है

कोई मासूम लड़की प्यार में क़ुर्बान है जिस पर
बनाकर वीडियो उसकी वो प्रेमी बेच देता है

ये कलयुग है कोई भी चीज़ नामुमकिन नहीं इसमें
कली, फल, पेड़, पौधे, फूल माली बेच देता है

उसे इंसान क्या हैवान कहने में भी शर्म आए
जो पैसों के लिए अपनी ही बेटी बेच देता है

चमन में जब से ये गन्दी हवा आयी है मग़रिब से
मेरा हर फूल अब साँपों को तितली बेच देता है

नज़र से दूर रहे या नज़र के पास रहे
हमेशा इश्क़ के मौसम बहुत ही ख़ास रहे

मैं तेरे ज़िक्र की वादी में सैर करता रहूँ
हमेशा लब पे तेरे नाम की मिठास रहे

वो रू-ब-रू थे तो आँखों से दौर चल निकले
खुली न बोतलें, ख़ाली सभी गिलास रहे

ये बात राज़ की, दादी ने हमको बतलायी
हमारी उम्र में अब्बा भी देवदास रहे

मैं कहकशाओं में ख़ुशियाँ तलाशने निकला
मिरे सितारे मिरा चाँद सब उदास रहे

मैं मुन्तज़िर हूँ किसी ऐसे वस्ल का जिसमें
मिरे बदन पे तिरे जिस्म का लिबास रहे

तिरी हयात से जुड़ जाऊँ वाक़या बनकर
तिरी किताब में मेरा भी इक़्तिबास रहे

घोटाले करने की प्यारे दिल्ली को बीमारी है
रपट लिखाने मत जाना तुम ये धन्धा सरकारी है

बीच खड़े होकर लाशों के इक बच्चे ने ये पूछा
मज़हब किसको कहते हैं, ये क्या कोई बीमारी है

तुमको पत्थर मारेंगे सब, रुस्वा तुम हो जाओगे
मुझसे मिलने मत आओ तुम मुझ पर फ़तवा जारी है

हिन्दू मुस्लिम सिक्ख ईसाई आपस में सब भाई हैं
इस चक्कर में मत पड़िएगा ये दावा अख़बारी है

नया विधेयक लाओ अब के बूढ़े सब आराम करें
देश युवाओं को दे दो अब नये खून की बारी है

जीना है तो झूठ भी बोलो, घुमा-फिराकर बात करो
केवल सच्ची बातें करना भी शायद बीमारी है

गौतम राजरिशी

पचहत्तर की पैदाइश वाले गौतम राजरिशी को पढ़िए तो आपको हैरानी होगी। एकदम नये लहजे....नयी ज़ुबान का शाइर। हिन्दी, उर्दू की रवानगी अंग्रेज़ी के लोकप्रिय शब्दों के साथ किस तरह जुगलबंदी करती है यह राजरिशी की शाइरी में साफ़ दिखता है। नावेल, शावर, टॉवल, सिगरेट, गिटार जैसे अल्फ़ाज़ों से वे किसी फ़ुटबाल खिलाड़ी की तरह अठखेलियाँ करते हैं। फ़ौज की नौकरी और इस नौकरी का भी बड़ा हिस्सा कश्मीर की वादियों में गुज़ारने के बीच जब भी वक़्त मिला तो इस जांबाज़ अधिकारी ने यादों की पोटली खोली और लफ़्ज़ों की गाँठें बना लीं जिसे ग़ज़ल का रूप मिल गया। अहमद फ़राज़ को अपना महबूब शायर मानने वाले गौतम को ग़ज़ल सुनने का शौक अपने वालिद से मिला जो डाक्टर होते हुए भी मेहँदी हसन और गुलाम अली को सुनते थे। अभी तक गौतम का कोई मज्मुआ शाए नहीं हुआ है, लेकिन इस बरस उम्मीद है कि उनका मज्मुआ शाए हो। फिलहाल गौतम की ग़ज़लियात का मज़ा लीजिए.....।

बात रुक-रुककर बढ़ी, फिर हिचकियों में आ गई
फोन पर जो हो न पायी, चिट्ठियों में आ गई

सुब्ह दो ख़ामोशियों को चाय पीते देखकर
गुनगुनी-सी धूप उतरी, प्यालियों में आ गई

ट्रेन ओझल हो गई, इक हाथ हिलता रह गया
वक़्त-ए-रुख़सत की उदासी चूड़ियों में आ गई

अधखुली रक्खी रही यूँ ही वो नावेल गोद में
उठ के पन्नों से कहानी सिसकियों में आ गई

चार दिन होने को आये, कॉल इक आया नहीं
चुप्पी मोबाइल की अब बेचैनियों में आ गई

बाट जोहे थक गई छत पर खड़ी जब दोपहर
शाम की चादर लपेटे खिड़कियों में आ गई

रात ने यादों की माचिस से निकाली तीलियाँ
और इक सिगरेट सुलगी, उँगलियों में आ गई

अड़स ली तूने जब साड़ी में गुच्छी चाभियों वाली
हुई ये ज़िंदगी इक चाय ताज़ी चुस्कियों वाली

कहाँ वो लुत्फ़ शहरों में भला डामर की सड़कों पर
मज़ा देती है जो घाटी कोई पगडंडियों वाली

भरे-पूरे से घर में तब से ही तन्हा हुआ हूँ मैं
गुमी है पोटली जब से पुरानी चिट्ठियों वाली

बरस बीते गली छोड़े, मगर है याद वो अब भी
जो इक दीवार थी कोने में नीली खिड़कियों वाली

खिली-सी धूप में भी बज उठी बरसात की रुन-झुन
उड़ी जब ओढ़नी वो छोटी-छोटी घंटियों वाली

दुआओं का हमारी हाल होता है सदा ऐसा
कि जैसे लापता फ़ाइल हो कोई अर्ज़ियों वाली

बहुत दिन हो चुके रंगीनियों में शहर की 'गौतम'
चलो, चलकर चखें फिर धूल वो रणभूमियों वाली

उजली-उजली बर्फ़ के नीचे पत्थर नीला-नीला है
तेरी यादों में ये सर्द दिसम्बर नीला-नीला है

दिन की रंगत ख़ैर गुज़र जाती है बिन तेरे, लेकिन
कत्थई-कत्थई रातों का हर मंज़र नीला-नीला है

दूर उधर खिड़की पे बैठी सोच रही हो मुझको क्या
चाँद इधर छत पर आया है, थककर नीला नीला है

तेरी नीली चुनरी ने क्या हाल किया बाग़ीचे का
नारंगी फूलों वाला गुलमोहर नीला-नीला है

बादल के पीछे का सच अब खोला तेरी आँखों ने
तू जो निहारे रोज़ इसे तो अम्बर नीला-नीला है

हुस्न भले हो रौशन तेरा लाल-गुलाबी रंग लिये
इश्क़ का तेरे परतौ लेकिन दिल का नीला-नीला है

इक तो तू भी साथ नहीं है, ऊपर से यह बारिश उफ़
घर तो घर, सारा-का-सारा दफ़्तर नीला नीला है

महफ़िल-महफ़िल शोर उठा है, मजलिस-मजलिस हंगामा
नीली ग़ज़ल इक लेकर आया शाइर नीला-नीला है

चीड़ के जंगल खड़े थे देखते लाचार से
गोलियाँ चलती रहीं इस पार से उस पार से

मिट गया इक नौजवाँ कल फिर वतन के वास्ते
चीख़ तक उट्ठी नहीं इक भी किसी अख़बार से

कितने दिन बीते कि हूँ मुस्तैद सरहद पर इधर
बाट जोहे है उधर माँ पिछले ही त्योहार से

अब शहीदों की चिताओं पर न मेले लगते हैं
है कहाँ फ़ुरसत ज़रा भी लोगों को घर-बार से

मुट्ठियाँ भींचे हुये कितने दशक बीतेंगे और
क्या सुलझता है कोई मुद्दा कभी हथियार से

मूर्तियाँ बन रह गये वो चौक पर, चौराहे पर
खींच लाये थे जो किश्ती मुल्क की मझधार से

बैठता हूँ जब भी 'गौतम' दुश्मनों की घात में
रात भर आवाज़ देता है कोई उस पार से

बहो, अब ऐ हवा ! ऐसे कि ये मौसम सुलग उट्ठे
ज़मीं और आस्माँ वाला हर इक परचम सुलग उट्ठे

सुलग उट्ठे ज़रा-सा और ये, कुछ और ये सूरज
सितारों की धधक में चाँदनी पूनम सुलग उट्ठे

लगाओ आग अब बरसात की बूँदों में थोड़ी-सी
जलाओ रात की परतें, ज़रा शबनम सुलग उट्ठे

उतर आओ हिमालय से पिघल कर बर्फ ऐ! सारी
मचे तूफ़ान यूँ गंगो-जमन, झेलम सुलग उट्ठे

झिंझोड़ो सब को, गहरी नींद में सोये हुये हैं जो
कि अलसाया हुआ मदहोश ये आलम सुलग उट्ठे

हटा दो पट्टियाँ सारी, सभी ज़ख़्मों को रिसने दो
कुरेदो टीस को इतना कि अब मरहम सुलग उट्ठे

मचलने दो धुनों को कुछ, कसो हर तार थोड़ा और
सुने जो चीख़ हर आलाप की, सरगम सुलग उट्ठे

मचाओ शोर ऐ ख़ामोश बरगद की भली शाखों
है बैठा ध्यान में जो लीन, वो 'गौतम' सुलग उट्ठे

बृजेश अम्बर

'पूत के पाँव पालने में' वाली कहावत चरितार्थ करते हुये बृजेश अम्बर अदब की पथरीली राहों में जिस तरह चहलक़दमी कर रहे हैं उससे उनकी आमद का संदेशा तो मिलता ही है, कल की खुशनुमा उम्मीद भी बँधती है। 1975 में जन्मे बृजेश अम्बर को यह ज़ौक़ विरसे में मिला। जिसके वालिद शीन काफ़ निज़ाम हों तो उसे शाइरी का शौक होना लाज़िमी है। साइंस ग्रेजुएट होने के बाद टेक्सटाइल कैमिस्ट्री में डिप्लोमा, प्रबंधन की डिग्री, बैंक में नौकरी.....मगर सब कुछ एक तरफ़, शाइरी एक तरफ़। अभी तक उनका कोई मज्मुआ तो शाया नहीं हुआ मगर मुख़्तलिफ़ रिसालों में फुटकर ग़ज़लें ज़रूर शाए होती रही हैं। राजस्थान पत्रिका का युवा सृजनात्मक साहित्य पुरस्कार उन्हें मिल चुका है। अभी उन्हें कई मंज़िलें तय करनी हैं। फ़िलहाल उनके शेरी सफ़र का एक नज़ारा मुलाहिज़ा कीजिये...।

आस्माँ है समंदर पे छाया हुआ
इसलिये रंग पानी का नीला हुआ

वक़्त नद्दी की मानिंद बहता रहा
और इक पल है सदियों से ठहरा हुआ

था कोई तो जो दहलीज़ पर धर गया
रात जलती हुई दिन दहकता हुआ

गुमशुदा शह्र में ढूँढ़ता हूँ किसे
एक-इक शक़्ल को याद करता हुआ

धूप और लू भरी थीं फ़ज़ाएँ मगर
उसकी यादों का मौसम था भीगा हुआ

जिसने चाहा नहीं उसने पाया नहीं
हमने चाहा जिसे वो हमारा हुआ

धूप जंगल में फिर खो गया है कोई
चाँद-तारों को आवाज़ देता हुआ

क्यूँ कहता है धूप से चेहरा जलता है
कब मेरे कहने से सूरज ढलता है

धीरे-धीरे रात का आँचल ढलता है
लम्हा-लम्हा ख़ौफ़ का ख़दशा बढ़ता है

रजनीगंधा महक रही है कमरे में
गलियों-गलियों चाँद अकेला फिरता है

वस्ल की रुत हो या मौसम हो फ़ुरक़त का
अन्दर-बाहर एक ही मंज़र रहता है

सूरज को भी साया देने की धुन में
एक परिंदा पेड़ पे उलटा लटका है

पीछे खींच रहा है अम्बर तो कोई
आगे-आगे हाथ बढ़ाता रहता है

दिल का हर ज़ख़्म आज़माने को
देख लूँ मुड़ के आशियाने को

लोग रहते हैं इस ज़माने में
याद करते हैं उस ज़माने को

जो शनावर हैं वो रहें बाहर
इश्क़ कहते हैं डूब जाने को

हम को फ़ुर्सत ही कुछ नहीं वरना
मुंतज़िर थी बहार आने को

मिस्ले-ए-आग़ोश हो गया दरिया
जब भी आया कोई नहाने को

शोर मचाता है दिन भर
शह्‌र हुआ है चिड़ियाघर

रस्ता रोक रहे बिस्तर
नींद ने छोड़ा आँख का घर

दिन में क्यूँ खो जाते हैं
ख़्वाब के सब अच्छे मंज़र

ये तेरा ही चेह्‌रा है
आईने से इतना डर

भीड़ से भागे फिरते थे
ख़ुश तो हो तन्हा होकर

कितने बोझिल हैं दिन-रात
हल्की-फुल्की बातें कर

ग़म से कौन कहे अम्बर
अपना कमरा ख़ाली कर

सुलगती रेत का हर ज़र्रा आब-सा चमका
उदास आँखों में जीने का हौसला चमका

अँधेरी रात में ये किसका नक़्श-ए-पा चमका
मुसाफ़िरों की निगाहों से रास्ता चमका

फ़ज़ा में फैल गये कितने याद के जुगनूँ
दयार-ए-शौक़ में जब कोई रतजगा चमका

बिखर रही है ख़यालों में ख़्वाब की ख़ुशबू
वुजूद बन के कहाँ कोई ख़ुश अदा चमका

खड़ा था मैं तो हज़ारों की भीड़ में अम्बर
मुझी पे किसलिए आकर वो दायरा चमका

'सज्जन' धर्मेन्द्र

आम आदमी के दर्द को अपनी ग़ज़ल में आवाज़ देने के हिमायती धर्मेन्द्र कुमार 'सज्जन' वर्तमान में एन.टी.पी.सी. की कोलडैम परियोजना में सिविल मैनेजर के पद पर कार्यरत हैं। 1979 में जन्मे धर्मेन्द्र का तख़ल्लुस 'सज्जन' है, उनका तख़ल्लुस उनके नाम ही नहीं उनके व्यक्तित्व की भी पहचान है। कविताकोश पर उनकी सक्रियता के चलते उन्हें कविताकोश योगदानकर्ता सम्मान मिला। इन्टरनेट एवं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाओं का निरंतर प्रकाशन होता रहता है। इन्टरनेट हिन्दी साहित्य में उनकी शिनाख़्त एक महत्त्वपूर्ण युवा हस्ताक्षर की है। अंजुमन प्रकाशन, इलाहाबाद से उनका पहला ग़ज़ल-संग्रह 'ग़ज़ल कहनी पड़ेगी झुग्गियों पर' प्रकाशित हुआ है। 'परों को खोलते हुये' में भी उनकी पहचान एक युवा रचनाकार की हैसियत से की गयी है।

मिलजुल के जब कतार में चलती हैं चींटियाँ
महलों को ज़ोर-शोर से खलती हैं चींटियाँ

मौका मिले तो लाँघ ये जाएँ पहाड़ भी
तीखी ढलान पर न फिसलती हैं चींटियाँ

आँचल न माँ का सर पे न साया है बाप का
जीवन की तेज़ धूप में पलती हैं चींटियाँ

चलना सँभल के राह में, जाएँ न ये कुचल
खाने-कमाने रोज़ निकलती हैं चींटियाँ

शायद कहीं मिठास है मुझमें बची हुई
अक्सर मिरे बदन पे टहलती हैं चींटियाँ

ग़ज़ल कहनी पड़ेगी झुग्गियों पर कारखानों पर
ये फ़न वरना मिलेगा जल्द रद्दी की दुकानों पर

कलम कहता रहा संभावना सब पर बराबर है
हमेशा बिजलियाँ गिरती रहीं कच्चे मकानों पर

लड़ाकू जेट उड़ाये खूब हमने रात-दिन लेकिन
कभी पहरा लगा पाये न गिद्धों की उड़ानों पर

सभी का हक़ है जंगल पे कहा ख़रगोश ने जबसे
तभी से शेर, चीते, लोमड़ी बैठे मचानों पर

कहा सबने बनेगा एक दिन ये देश नंबर वन
नतीजा देखकर मुझको हँसी आई रुझानों पर

दे दी अपनी जान किसी ने धान उगाने में
मज़ा न आया साहब को बिरयानी खाने में

खाओ जी भर लेकिन यूँ तो मत बर्बाद करो
एक लहू की बूँद जली है हर इक दाने में

पल भर के गुस्से से सारी बात बिगड़ जाती
सदियाँ लग जाती हैं बिगड़ी बात बनाने में

उनसे नज़रें टकराईं तो जो नुकसान हुआ
आँसू भरता रहता हूँ उसके हरजाने में

अपने हाथों वो देते हैं सुबह-ओ शाम दवा
क्या रक्खा है 'सज्जन' अब अच्छा हो जाने में

पानी का सारा गुस्सा जब पी जाता है बाँध
दरिया को बाँहों में लेकर बतियाता है बाँध

नदी चीर देती चट्टानों का सीना लेकिन
बँध जाती जब दिल माटी का दिखलाता है बाँध

पत्थर सा तन, मिट्टी सा दिल, मन हो पानी सा
तब जनता के हित में कोई बन पाता है बाँध

जन्म, बचपना, यौवन इसका देखा इसीलिए
सपनों में अक्सर मुझसे मिलने आता है बाँध

मरते दम तक साथ नदी का देता है तू भी
तेरी-मेरी मिट्टी का कोई नाता है बाँध

है मरना डूब के, मेरा मुकद्दर, भूल जाता हूँ
तेरी आँखों में सागर है ये अक्सर भूल जाता हूँ

ये दफ़्तर जादुई है या मेरी कुर्सी नशीली है
मैं हूँ जनता का एक अदना सा नौकर भूल जाता हूँ

हमारे प्यार में इतना तो नश्शा अब भी बाकी है
पहुँचकर घर के दरवाज़े पे दफ़्तर भूल जाता हूँ

तुझे भी भूल जाऊँ ऐ ख़ुदा तो माफ़ कर देना
मैं सब कुछ तोतली आवाज़ सुनकर भूल जाता हूँ

न जीता हूँ न मरता हूँ तेरी आदत लगी ऐसी
दवा हो ज़हर हो दोनों मैं लाकर भूल जाता हूँ

विपुल कुमार

1993 की पैदाइश वाले विपुल कुमार यूँ तो इंजीनियरिंग में ग्रेजुएशन कर रहे हैं लेकिन ग़ज़ल का अन्दाज़ उन्हें इस क़दर भाता है कि वे एक अदबी सोच वाले आदमी ज़्यादा लगते हैं बनिस्बत एक टेक्नोक्रेट के। राजस्थान के श्री गंगानगर के रहने वाले विपुल ने ग़ज़ल लिखने की शुरूआत अपने स्कूली दिनों से की। वे मानते हैं इज़हारे ख़्याल का सबसे बढ़िया ज़रिया ग़ज़ल ही है। दीगर शाइरों की तरह वे भी ग़ालिब और फ़ैज़ के दीवाने हैं। अहमद फ़राज़ और जॉन एलिया की शाइरी से वे मुतास्सिर हैं। बीस बरस के इस होनहार शाइर के तेवर उनकी ग़ज़लों में साफ़ दिखते हैं।

अदम से आये हैं चौखट पे तेरी दीवाने
बला से अपनी अगर अब भी तू न पहचाने

जहाने नौ में दिलों को ज़बान मिलती है
अज़ल तलक थे दिल-ए-बेनवा के अफ़साने

मैं दश्त-ए-तर्क-ए-मरासिम से लाजवाब आया
अज़ब सवाल उठाये थे उसके गिरया ने

तुझे गुमाँ भी नहीं तेरी दिलबरी के लिए
पलट के आये हैं किन मंज़िलों से दीवाने

इसी का नाम अज़ीज़ों ने शहर रखा है
यहाँ बज़िद हैं खुद आवारगी के काशाने

सुलझ सकी न तेरी जुल्फ़ए-बद-मिज़ाज अल्लाह!
उलझ के रह गये उश्शाक़-ए-शहर के शाने

मुहब्बतों में दिलों के इरादे क्या मालूम
हम अपना जानते हैं आपका खुदा जाने

ख़्याल-ए-यार की आमद का जश्न करना है
अयाग़-ए-चश्म में उलटा के लाओ मैख़ाने

ख़ामे में मेरे गर्दिशए-हिज्रओ विसाल है
सो ये ग़ज़ल भी खून-ए-तमन्ना से लाल है

कूचे में यार के है मेरी ख़ाकए-बाद-बाज़
बादए-फ़ना तो जान की हसरत निहाल है

मरता हूँ ताबए गिरया-ए-खून आब-अश्क से
सुनता हूँ अब भी आपको मेरा ख़याल है

तौहीन-ए-औज-ए-यार अगर हो न तो कहूँ
क़ामत में ज़िक्रे-रोज़े-जज़ा भी कमाल है

जी से तुम्हारे ख़ौफ़-ए-क़यामत भी उठ बने
तुमको मैं गर बताऊँ जो फ़ुरकत का हाल है

ग़ैर-अज़-रक़ीब कौन समझता है जी का हाल
वो दोस्त है उदू है जो भी है कमाल है

अब मैं हूँ और ज़ुल्मत-ए-मरहूम-आरज़ू
अब तू है और मज़मा-ए-नूर-ओ जमाल है

मेरी ग़ज़लों का असर लेता गया
वो मेरा कस्ब-ए-हुनर लेता गया

आँख में आँसू न दिल में हसरतें
इश्क़ सब कुछ लूटकर लेता गया

बाद उसके हर तरफ जंगल सा है
वो गया तो सारा घर लेता गया

शब में तारीकी न दिन में रौशनी
वो मिरे शामओ सहर लेता गया

दे गया सौ कारवाँ उम्मीद के
पर मिरा अज़्म-ए-सफ़र लेता गया

हम न समझे ऐ दिल-ए-ज़ेर-ए-सितम
जान वो किस बात पर लेता गया

अब है यारा खुश्कियों से राब्ते
वो मिरा सैल-ए-नज़र लेता गया

अब जुनूँ बाँधे तो बाबए हुस्नए लैला बाँधिये
हर नज़र के साथ अब कोई तामाशा बाँधिये

अब तलब से टूटता है आपका नाज़ुक बदन
किसने बाँधा था कि आप अहद-ए-तमन्ना बाँधिये

वो सरापा नाज़ और याँ एक दिल वा-ए-सितम
दिल में आता है कि दिल ही दिल सरापा बाँधिये

वाँ गुरूरो नाज़ओ ग़मज़ा-ओ-अदा-ओ-दिलबरी
याँ फ़क़त इक रिश्तए अफ़कार क्या-क्या बाँधिये

आपने बाँधी कमर मेरे मिटाने के लिये
मस्अला नाज़ुक है मेरी जान हल्का बाँधिये

बाँधने को यूँ तो ज़ुल्फ़ें आपने बाँधी बहुत
अब ज़रा उठिये तराबिश हा-ए-दरिया बाँधिये

चारागर हैं आप तो कीजे, इलाज-ए-दर्द-ए-दिल
यूँ ना बे तरतीब ज़ख़्मों पर दिलासा बाँधिये

तिरी कुर्बतों के ख़याल में तिरी फुरकतों के शुमार पर
मेरी जिन्दगी भी गुज़र गयी किसी अहद-ए-आमद-ए-यार पर

जो चमन में अबके खिला नहीं मेरी हसरतों का गुलाब था
मिरा फ़सल-ए-गुल से हिसाब है मेरा कर्ज़ है ये बहार पर

कभी आ के देख तो हमनशीं तिरा मुन्तज़िर हूँ मैं आज भी
है मिज़गां वफ़ा की खुली हुई मिरी ख्वाहिशों के मज़ार पर

मुझे रहबरों से गिला नहीं तिरी चाहतों में मिला यही
है मेरे सफ़र का सिला यही जो निशाँ है राहए गुज़ार पर

है कलम की धार पे दो हदफ़ या 'फराज़' है या कि 'फैज़' है
ये सुख़नवरी है टिकी कहाँ रूख-ए-यार पर या कि दार पर

कभी आ के देख ज़मीन पर तेरे शहर-ए-रंजओ हिरास में
जो गुज़र रही है मिरे ख़ुदा तिरे मुश्त-ए-ख़ाक-ए-गुबार पर

वीनस केसरी

1985 की पैदाइश वाले वीनस केसरी ग़ज़ल से ज्यादा ग़ज़ल के अरूज़ से जुड़े हैं। पिछले चार बरस से ग़ज़ल के अरूज़ पर काम कर रहे हैं। यह काम जल्दी ही पुस्तक के रूप में प्रकाशित होने वाला है। वीनस ऐसे परिवार से हैं जिसने इलाहाबाद में रहते हुए पुस्तक प्रकाशन का कार्य किया है। उनसे मिलिए तो आपको अहसास होगा कि कितनी कम उम्र में इस नौजवान ने स्वयं को हालात से लड़ते हुए मज़बूत बनाया है। किसी भी तंज़ की परवाह न करते हुए आगे बढ़ते रहना वीनस का शग़ल है। उनकी कोई कृति अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है। ब्लॉग और सोशल मीडिया में उनकी उपस्थिति लगातार बनी रहती है। राहत इन्दौरी और जॉन एलिया को पसंद करने वाले वीनस यूँ तो कहानी, लघुकथा, दोहे, छन्द भी लिखते रहते हैं मगर उन्हें सुकून तो ग़ज़ल लिखने में ही मिलता है।

सिहर जाता हूँ, ऐसा बोलता है
वो बस मीठा ही मीठा बोलता है

समय के सुर में बोलेगा वो इक दिन
अभी तो उसका लहजा बोलता है

ये उसकी तिश्नगी है या तिजारत
वो मुझ जैसे को दरिया बोलता है

उसे खुद ही नहीं मालूम होता
नशे में मुझसे क्या-क्या बोलता है

वो सब कुछ जानता है जानकर भी
अँधेरे को उजाला बोलता है

पुरानी बात है, सब जानते हैं
नया मुर्ग़ा ज़ियादा बोलता है

मेरी माँ आजकल खुश हैं इसी में
अदब वालों में बेटा बोलता है

अब हो रहे हैं देश में बदलाव व्यापक देखिये
शीशे के घर में लग रहे लोहे के फाटक देखिये

जो ढो चुके हैं इल्म की गठरी अदब की बोरियां
वो आ रहे हैं मंच पर बनकर विदूषक देखिये

जिसके सहारे जीत लीं हारी हुई सब बाज़ियां
उस सत्य के बदले हुए प्रारूप भ्रामक देखिये

जब आपने रोका नहीं खुद को पतन की राह पर
तो इस गिरावट के नतीजे भी भयानक देखिये

किसने कहा था क्या विमोचन के समय सब याद है
पर खा रही हैं वह किताबें कब से दीमक देखिये

इक उम्र जो गंदी सियासत से लड़ा, लड़ता रहा
वह पा के गद्दी खुद बना है क्रूर शासक देखिये

जनता के सेवक थे जो कल तक आज राजा हो गए
अब उनकी ताक़त देखिये उनके समर्थक देखिये

दिखा है झूठ में कुछ फ़ायदा तो
मगर मैं खुद से ही टकरा गया तो

मुझे सच से मुहब्बत है, ये सच है
पर उनका झूठ भी अच्छा लगा तो

शराफ़त का तक़ाज़ा तो यही है
रहें चुप सुन लिया कुछ अनकहा तो

करूँगा मना कैसे फिर उसे मैं
दिया अपना जो उसने वास्ता तो

रहीम इस बार तो 'कुट्टी' न होना
अगर मैं राम से 'मिल्ली' हुआ तो

हमें बस शाइरी का शौक है, पर
यही इक शौक भारी पड़ गया तो

वो मानेगा मेरी बातें, ये सच है
करेगा दिल की ही ज़िद पर अड़ा तो

खुले हो जिस तरह तुम उनसे 'वीनस'
अचानक तोड़ लें वह राबिता तो

जाल सय्याद फिर से बिछाने लगे
क्या परिंदे यहाँ आने-जाने लगे

खेत के पार जब कारखाने लगे
गाँव के सारे बच्चे कमाने लगे

फिर से दहला गये शहर को चंद लोग
हुक्मराँ फिर कबूतर उड़ाने लगे

वो जो इस पर अड़े थे कि सच ही कहो
मैंने सच कह दिया तिलमिलाने लगे

वक़्त की पोटली से हैं लम्हात गुम
होश अब तो हमारा ठिकाने लगे

चंद खुशियाँ जो मेहमाँ हुईं मेरे घर
रंज-ओ ग़म कैसा तेवर दिखाने लगे

मेरे अश्आर में जाने क्या बात थी
लोग तड़पे मगर मुस्कुराने लगे

दर्पण में कुछ खुद से बेहतर ढूँढ़ रहे हैं
जाने खुद में किसका पैकर ढूँढ रहे हैं

अम्बर पे घर की ख़्वाहिश कर ली है सबने
अब मेलों में परियों के पर ढूँढ रहे हैं

खूब ज़ियादा और ज़ियादा की चाहत में
पाँव बढ़ाकर लंबी चादर ढूँढ रहे हैं

प्यास बुझाने की ख़ातिर भी सागर मंथन
जाने क्या हम भीतर-बाहर ढूँढ रहे हैं

गमलों में हम बरगद पीपल नीम लगाकर
अपने अंदर गाँव का मंज़र ढूँढ रहे हैं

जब से लोगों ने मुझ पर हैं पत्थर फेंके
वो पत्थर मुझमें इक अम्बर ढूँढ रहे हैं

'वीनस' अपने शेरों में खुद को खोजे है
आप ग़ज़ल में बागी तेवर ढूँढ रहे हैं

अंकित सफ़र

अंकित सफ़र भी नई नस्ल के शाइरों में एक महत्त्वपूर्ण नाम है। उनकी शाइरी में एक उत्साह देखने को मिलता है जो समाज में फैले हुए व्यभिचार को अपने तल्ख़ लहजे से मिटाने का जज़्बा लेकर आगे बढ़ रहा है। पंतनगर विश्वविद्यालय से कृषि स्नातक तदुपरान्त एम.बी.ए. करने के बाद ग़ज़ल लेखन में मुसलसल मुब्तिला। घर-घराने में कई पीढ़ियों तक कोई ऐसा नहीं जिसे ग़ज़ल की समझ हो..... स्वप्रेरणा से ग़ज़ल लेखन की शुरूआत की बाद में पंकज सुवीर के सान्निध्य में रहकर ग़ज़ल को सजाया-सँवारा। आज कल मुंबई में रहते हुए अपने व्यवसाय के साथ ग़ज़ल की आबरू बढ़ाने में प्रयासरत। 28 वर्षीय अंकित का मानना है कि फ़िलहाल जो दौर है उसमें शब्दों और शाइरों में एक अन्तर्संबंध है जिसके चलते शब्द शाइरों को और शाइर शब्दों को ढूँढ़ रहे हैं।

हर इक साँचे में ढल जाये ज़रा ऐसे पिघल प्यारे
तू अपनी सोच के पिंजरे से बाहर तो निकल प्यारे

झुकाएगा नहीं अब पेड़ अपनी शाख़ पहले सा
तिरी चाहत अगर ज़िद्दी है तो तू ही उछल प्यारे

पस-ए-हालात में ख़ामोशियाँ भी चीख उट्ठी हैं
रगों में गर लहू बहता है तेरे तो उबल प्यारे

जहाँ फ़रियाद गुम होने लगे आवाज़ में अपनी
वहाँ पर टूटने ही चाहिए सारे महल प्यारे

निवाला आज भी मुश्किल से मिलता है यहाँ लेकिन
फले-फूले हैं हाथी, साइकिल, पंजा, कमल प्यारे

सड़क पर हम भी उतरेंगे हमारी भी हैं कुछ माँगें
नया फैशन है निकला देश में ये आजकल प्यारे

है अहल-ए-शह्र का लहजा न जाने तल्ख़ क्यूँ इतना
सुनाना चाहता हूँ मैं यहाँ बस इक ग़ज़ल प्यारे

हमारे सब्र का वो खूबसूरत पल निकल आये
वो अपने दोस्तों के साथ गर पैदल निकल आये

जवाँ इस उम्र की ड्योढ़ी पे जब उसने कदम रक्खे
बढ़ाने दोस्ती गालों पे कुछ पिम्पल निकल आये

जमी जब चौकड़ी यारों की सालों बाद तो फिर से
खुले यादों के बक्से और गुज़रे पल निकल आये

अँगीठी-कोयले में दोस्ती बढ़ने लगी जब कुछ
दिखाने रौब फिर संदूक से कम्बल निकल आये

ये नैनीताल है साहब, मकानों से यहाँ ज़्यादा
गली-कूचों में टपरी से कई होटल निकल आये

अभी तक तो उसे ही पूजते आये थे सब लेकिन
उसी के क़द बराबर अब कई पीपल निकल आये

पुकारें आस्माँ को दीं, झुलसती फ़स्ल ने जब तो
बँधाने आस थोड़ी स्याह से बादल निकल आये

आकाश पे देखी गई धरती की तपन भी
बूँदों में था लिपटा हुआ बादल का बदन भी

ऐ काश कि पढ़ सकता तू बादल की शिकन भी
बूँदों में था लिपटा हुआ बारिश का बदन भी

उसने यूँ नज़र भर के है देखा मेरी जानिब
आँखों में चली आई है हाथों की छुअन भी

ऐ सोच मेरी सोच से आगे तू निकल जा
उन सा ही सँवर जाए ये अंदाज़-ए-कहन भी

बातों में कभी आई थी मेहमान के जैसे
अफ़सोस के घर कर गई दिल में ये ज़लन भी

आहिस्ता से पलकों ने मेरी जाने कहा क्या
अब नींद में ही टूटना चाहे है थकन भी

ढलती ही नहीं है ये मुई रात में जा कर
चुपचाप किसी शाम सी अटकी है घुटन भी

हैं कदम-कदम पे जो इम्तिहां मेरे हौसलों से वो दंग हों
चढ़े डोर जब ये उमीद की, मेरी कोशिशें भी पतंग हों

ये जो आड़ी-तिरछी लकीरें हैं मेरे हाथ में, तेरे हाथ में
किसी ख़्वाब की कई सूरतें, किसी ख़्वाब के कई रंग हों

कई मुश्किलों में भी ज़िन्दगी तेरे ज़िक्र से है महक रही
तेरी चाहतों की ये खुशबुएँ मैं जहाँ रहूँ मेरे संग हों

कई हसरतों, कई ख़्वाहिशों की निबाह के लिए उम्र भर
इसी ज़िन्दगी से ही दोस्ती, इसी ज़िन्दगी से ही जंग हों

जो रिवाज और रवायतें यूँ रखे हुए हैं सँभाल के
वो लिबास वक़्त की उम्र संग बदन कसें, कहीं तंग हों

ये किसी फ़कीर की है दुआ तुझे इस मक़ाम पे लाई जो
तू जहाँ कहीं भी रहे 'सफ़र' तेरी हिम्मतें तेरे संग हों

आदिल रज़ा मंसूरी

1978 मे जन्मे आदिल रज़ा मंसूरी से अगर गुफ़्तगू करें तो आपको तुरन्त अहसास हो जाएगा कि जिस शख्स से आप मुख़ातिब हैं वो उम्र में तो कम है मगर इल्म के हिसाब से उसका क़द बहुत ज़्यादा है। कम उम्र में ही नामचीन लोगों से उनकी सोहबतों ने उन्हें इतना परिपक्व बना दिया है कि हैरत होती है। यूँ तो वाणिज्य बैकग्राउण्ड वाले आदिल कम्प्यूटर पर एकाउन्टिंग के साफ़्टवेयर में उलझे रहते हैं मगर उनका दिमाग़ ज़ाहिर-बज़ाहिर शायरी के महीन धागों में ही उलझा रहता है। वे 'इस्तिफ़िसार' नामक उर्दू मैग्ज़ीन के सम्पादक/प्रकाशक भी हैं और 'आबशार' नामक एक अरबी सोसायटी के सर्वेसर्वा भी। साहित्यिक गतिविधियों और सोसायटियों से उनका जुड़ाव मुसलसल बना रहता है। महत्त्वपूर्ण मैग्ज़ीनों में उनकी रचनाएँ आये दिन शाए होती रहती हैं। गुलज़ार व शीन काफ़ निज़ाम जैसी हस्तियों से हौसला अफ़ज़ाई हुई तो शाइरी को अपना ठिकाना मान लिया। 'खिड़की में ख़्वाब' किताब के संपादक के रूप में नयी पहचान मिली।

ज़मीन किसके लिए आसमान किस का है
कभी खुला ही नहीं ये जहान किस का है

ये कौन है जो मुझे पूछता है रह-रहकर
मकीन तू है मगर ये मकान किस का है

हमारे बीच में फिर फ़ासिला है क्यूँ बाक़ी
यकीन दोनों को है तो गुमान किस का है

ज़मीं के माथे पे रौशन है मेरा सिजदा, पर
ये आस्माँ की जबीं पर निशान किस का है

मेरे नसीब में ख़्वाब-ए-ख़ला बजा 'आदिल'
मगर बता तो सही ख़ाकदान किस का है

सफ़र के बाद भी मुझको सफ़र में रहना है
नज़र से गिरना भी गोया ख़बर में रहना है

अभी से ओस को किरनों से पी रहे हो तुम
तुम्हें तो ख़्वाब सा आँखों के घर में रहना है

हवा तो आपकी क़िस्मत में होना लिखा था
मगर मैं आग हूँ, मुझको शजर में रहना है

निकल के खुद से ख़ुद ही में डूब जाता है
मैं वो सफ़ीना हूँ जिसको भँवर में रहना है

तुम्हारे बाद कोई रास्ता नहीं मिलता
तो तय हुआ कि उदासी के घर में रहना है

जला के कौन चले अब उसे किसी की तरफ़
बुझे दिए को तो 'आदिल' खंडर में रहना है

शाम होते ही घर में दर आई
एक तन्हाई मुस्कुराती हुई

हर बदन रंग-रूप खो बैठा
कैसी परछाईं शहर से गुज़री

रास्ता याद घर का तुम रखना
मेरी आवारगी तो भटकेगी

दश्त का दर खुला तो ये जाना
दस्तकों की ज़बान है अपनी

रात को ख़्वाब में हँसा इतना
सुबह दम आईने में बरकत थी

हमने सहरा को घर किया तो सुना
इक नदी भी यहाँ से गुज़रेगी

अगर किसी प कभी मानी-ए-सफ़र खुलता
अबद के बाद की दुनिया का उस प डर खुलता

बचा हुआ हूँ उसी के तुफ़ैल मैं शायद
न डूब जाता अगर याद का भँवर खुलता

मैं उस की ज़ात से अपना सुराग़ ले आता
कभी जो पात से जड़ तक अगर शजर खुलता

वो कैसा आब है चारों ही सिम्त बहता है
मैं इक मुहाना हूँ बोलो किधर-किधर खुलता

तुम्हारे होने की दुनिया को क्या ख़बर होती
अगर हमारा फ़साना ही मुख़्तसर खुलता

ये अपने आप में रहना तिरा बजा 'आदिल'
मगर कभी तो किसी पर तू आन भर खुलता

देख नक़्शा नया आसमानों का है
ये करिश्मा हमारी उड़ानों का है

जिसने सूरज को अपना निवाला किया
मोजिज़ा ये भी हम जाँ-फ़िशानों का है

कौन नापेगा अब राह की सख़्तियाँ
सब पे तारी नशा अब थकानों का है

हम भी अगले क़दम पर बिछड़ जायेंगे
उस के आगे सफ़र दास्तानों का है

देखना हर घड़ी जंगलों की तरफ़
ये असर हम प गुज़रे ज़मानों का है

प्रखर मालवीय

महज़ बीस बरस के नवोदित शाइर प्रखर मालवीय 'कान्हा' को पढ़िये तो आपको दाँतों तले उँगली दबाना ही होगा। यूँ तो कान्हा के परिवार में दूर-दूर तक इस विधा से कोई वास्ता नहीं है लेकिन वे जगजीत सिंह और गुलाम अली को सुनते-सुनते कब ग़ज़ल को महबूब बना बैठे, यह उन्हें भी नहीं मालूम। पहले हिन्दी कविता लिखी फिर ग़ज़ल को अपना लिया। सी. ए. बैकग्राउण्ड वाले प्रखर को बशीर बद्र, गुलज़ार, जॉन एलिया, मुनव्वर राना और दुष्यन्त कुमार को पसन्द करने वाले स्वप्निल तिवारी से सलाह लेते रहते हैं। अब तक कई पत्र-पत्रिकाओं में उनकी कविताएं प्रकाशित हुई हैं लेकिन स्वतंत्र कृति आना शेष है।

सितम देखो कि जो खोटा नहीं है
चलन में बस वही सिक्का नहीं है

नमक ज़ख़्मों पे अब मलता नहीं है
ये लगता है वो अब मेरा नहीं है

यहाँ पर सिलसिला है आँसुओं का
दिया घर में मिरे बुझता नहीं है

यही रिश्ता हमें जोड़े हुए है
कि दोनों का कोई अपना नहीं है

नये दिन में नये किरदार में हूँ
मिरा अपना कोई चेहरा नहीं है

मिरी क्या आरज़ू है क्या बताऊँ?
मिरा दिल मुझपे भी खुलता नहीं है

कभी हाथी कभी घोड़ा बना मैं
खिलौने बिन मिरा बच्चा नहीं है

तीरगी से रौशनी का हो गया
मैं मुकम्मल शाइरी का हो गया

देर तक भटका मैं उसके शहर में
और फिर उसकी गली का हो गया

सो गया आँखों तले रख के उन्हें
और ख़त का रंग फ़ीका हो गया

एक बोसा ही दिया था रात ने
चाँद तू तो रात ही का हो गया

रात भर लड़ता रहा लहरों के साथ
सुब्ह तक 'कान्हा' नदी का हो गया

वही गवाह जो सच्चे बयान वाला है
ज़बां पे उसकी भी ख़ामोशियों का ताला है

शरीफ़ शख़्स है, अहसान लादने के लिए
मुझे गिराया है खुद, खुद मुझे सम्हाला है

अभी मैं ज़िंदा हूँ इस पर यक़ीन कर लो तुम
रवां है साँस मिरी इक यही हवाला है

निकल पड़ा हूँ मैं यादों की सर्द राहों पर
सियाह शब का मेरे जिस्म पर दुशाला है

नहीं मैं कहता ग़ज़ल कोई भी यूँ ही 'कान्हा'
हज़ार ज़ख़्म हैं जिनको कि मैंने पाला है

कहीं जीने से मैं डरने लगा तो
अज़ल के वक़्त ही घबरा गया तो

ये दुनिया अश्क से ग़म नापती है
अगर मैं ज़ब्त करके रह गया तो

ख़ुशी से नींद में ही चल बसूँगा
वो गर ख़्वाबों में ही मेरा हुआ तो

ये ऊँची बिल्डिंगें हैं जिसके दम से
वो ख़ुद फुटपाथ पर सोया मिला तो

मैं बरसों से जो अब तक कह न पाया
लबों तक फिर वहीं आकर रुका तो

क़रीने से सजा कमरा है जिसका
वो ख़ुद अंदर से गर बिखरा मिला तो

लकीरों से हैं मेरे हाथ ख़ाली
मगर फिर भी जो वो मुझको मिला तो

ख़ला को छू के आना चाहता हूँ
मैं ख़ुद को आज़माना चाहता हूँ

मेरी ख़्वाहिश तुझे पाना नहीं है
ज़रा सा हक़ जताना चाहता हूँ

तुझे ये जानकर हैरत तो होगी
मैं अब भी मुस्कुराना चाहता हूँ

तेरे हँसने की इक आवाज़ सुनकर
तेरी महफ़िल में आना चाहता हूँ

मेरी ख़ामोशियों की बात सुन लो
ख़मोशी से बताना चाहता हूँ

बहुत तब्दीलियाँ करनी हैं ख़ुद में
नया किरदार पाना चाहता हूँ

अमीर इमाम

पाँचवीं पीढ़ी के रूप में दरबारे-ए-ग़ज़ल में हाज़िर अमीर इमाम को ग़ज़ल कहने का हुनर विरसे में मिला। घर में नौहा, सलाम, मर्सिया कहने की परम्परा थी जो अमीर को ग़ज़ल की ज़मीन पर खींच लाई। 1984 में जन्मे अमीर इमाम का झुकाव बचपन से ही शाइरी की सिम्त हो गया। ए.एम. यू. से सिविल इंजीनियरिंग में डिप्लोमा करने के बाद जर्नलिज्म की तरफ़ रुझान हुआ। कुछ दिन अंग्रेज़ी अख़बारों में काम किया। फिलहाल संभल (उ.प्र.) में रहकर अंग्रेज़ी से मास्टर्स डिग्री हासिल करने की जद्दोजहद में लगे अमीर अपना कैरियर एजूकेशन लाइन में बनाना चाहते हैं। शाइरी में क्लासिकल पोइट्स के साथ मीर अनीस को अपना मोतबर शाइर मानने वाले अमीर का एक मज्मुआ 'नक्शे पा हवाओं के' (उर्दू) 2013 में ही शाया हुआ है।

ये कार-ए-ज़िन्दगी था तो करना पड़ा मुझे
ख़ुद को समेटने में बिखरना पड़ा मुझे

फिर ख़्वाहिशों को कोई सराय न मिल सकी
इक और रात ख़ुद में ठहरना पड़ा मुझे

महफ़ूज़ ख़ामुशी की पनाहों में था मगर
गूँजी इक ऐसी चीख़ कि डरना पड़ा मुझे

इस बार राह-ए-इश्क़ कुछ इतनी तवील थी
उसके बदन से होके गुज़रना पड़ा मुझे

पूरी 'अमीर' इमाम की तस्वीर जब हुई
उसमें लहू का रंग भी भरना पड़ा मुझे

यूँ मिरे होने को मुझ पर आशकार उसने किया
मुझमें पोशीदा किसी दरिया को पार उसने किया

पहले सहरा से मुझे लाया समन्दर की तरफ़
नाव पर काग़ज़ की फिर मुझको सवार उसने किया

मैं था इक आवाज़ मुझको ख़ामुशी से तोड़कर
किरचियों को देर तक मेरी शुमार उसने किया

दिन चढ़ा तो धूप की मुझको सलीबें दे गया
रात आई तो मिरे बिस्तर को दार उसने किया

जिसको उसने रौशनी समझा था मेरी धूप थी
शाम होने का मिरी फिर इन्तज़ार उसने किया

देर तक बुनता रहा आँखों के करघे पर मुझे
बुन गया जब मैं तो मुझको तार-तार उसने किया

वो मारेका कि आज भी सर हो नहीं सका
मैं थक के मुस्करा दिया जब रो नहीं सका

इस बार यह हुआ तेरी यादों की भीड़ में
हर गाम ख़ुद को मिल गया मैं खो नहीं सका

जागा हूँ गहरी नींद से लेकिन अजीब बात
यह लग रहा है जैसे कि मैं सो नहीं सका

उग आयी घास इश्क़ के मलबे पे हर तरफ़
हम दोनों में से कोई उसे ढो नहीं सका

जादू नगर है कोई मेरा अन्दरूँ जहाँ
होता रहा है वो जो कभी हो नहीं सका

काँधों से ज़िन्दगी को उतरने नहीं दिया
उस मौत ने कभी मुझे मरने नहीं दिया

पूछा था आज मेरे तबस्सुम ने इक सवाल
कोई जवाब दीद-ए-तर ने नहीं दिया

तुझ तक मैं अपने आप से होकर गुज़र गया
रस्ता जो तेरी राह गुज़रने नहीं दिया

कितना अजीब मेरा बिखरना है दोस्तों
मैंने कभी जो ख़ुद को बिखरने नहीं दिया

है इम्तिहान कौन सा सहरा-ए-ज़िन्दगी
अब तक जो तेरे ख़ाक बसर ने नहीं दिया

यारों 'अमीर' इमाम भी इक आफ़ताब था
पर उसको तीरगी ने उभरने नहीं दिया

अब इस जहान-ए-बरहना का इस्तेआरा हुआ
मैं ज़िन्दगी तिरा इक पैरहन उतारा हुआ

सियाह ख़ून टपकता है लम्हे-लम्हे से
न जाने रात पे शब ख़ूँ है किसने मारा हुआ

जकड़ के साँसों में तश्हीर हो रही है मिरी
मैं एक क़ैद सिपाही हूँ जंग हारा हुआ

फिर इसके बाद वो आँसू उतर गया दिल में
ज़रा सी देर को आँखों में इक शरारा हुआ

ख़ुदा का शुक्र मिरी तश्नगी पलट आयी
चली गयी थी समन्दर का जब इशारा हुआ

'अमीर' इमाम मुबारक हो फतह-ए-इश्क़ तुम्हें
यह दर्द माल-ए-ग़नीमत है सब तुम्हारा हुआ

जतिन्दर 'परवाज़'

जतिन्दर 'परवाज़' की विलादत 25 फरवरी, 1975 को पठान कोट, पंजाब के एक गाँव में हुई। ये हिन्दी, उर्दू, अंग्रेज़ी, पंजाबी में मज़बूत पकड़ रखते हैं। पंजाब की नौजवान नस्ल में मशहूर और मकबूल शाइर की हैसियत से जाने जाते हैं। इनकी ग़ज़लें हिन्दी-उर्दू की मुख़्तलिफ़ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं। आल इन्डिया मुशायरों और कवि सम्मेलनों में शिरकत तथा रेडियो और टी.वी. पर शाइरी के लाइव एवं रिकार्डिंग प्रोग्राम नश्त होते रहते हैं। फ़िलवक़्त ये दिल्ली के एक अख़बार में उप संपादक के पद पर कार्यरत हैं तथा हिन्दी, उर्दू, पंजाबी में अनुवाद और कम्प्यूटर कम्पोजिंग का काम भी करते रहते हैं।

गुमसुम तनहा बैठा होगा
सिगरेट के कश भरता होगा

उसने खिड़की खोली होगी
और गली में देखा होगा

जोर से मेरा दिल धड़का है
उसने मुझको सोचा होगा

सच बतलाना कैसा है वो
तुमने उसको देखा होगा

मैं तो हँसना भूल गया हूँ
वो भी शायद रोता होगा

ठंडी रात में आग जलाकर
मेरा रस्ता तकता होगा

अपने घर की छत पर बैठा
शायद तारे गिनता होगा

ज़रा सी देर में दिलकश नज़ारा डूब जाएगा
ये सूरज देखना सारे का सारा डूब जाएगा

न जाने फिर भी क्यों साहिल पे तेरा नाम लिखते हैं
हमें मालूम है इक दिन किनारा डूब जायेगा

सफ़ीना हो के हो पत्थर हैं हम अंजाम से वाकिफ़
तुम्हारा तैर जायेगा हमारा डूब जायेगा

समन्दर के सफ़र में किस्मतें पहलू बदलती हैं
अगर तिनके का होगा तो सहारा डूब जायेगा

मिसालें दे रहे थे लोग जिसकी कल तलक हमको
किसे मालूम था वो भी सितारा डूब जायेगा

सहमा-सहमा हर इक चेहरा मंज़र-मंज़र ख़ून में तर
शह्र से जंगल ही अच्छा है चल चिड़िया तू अपने घर

तुम तो ख़त में लिख देती हो घर में जी घबराता है
तुम क्या जानो क्या होता है हाल हमारा सरहद पर

बे मौसम ही छा जाते हैं बादल तेरी यादों के
बे मौसम ही हो जाती है बारिश दिल की धरती पर

आ भी जा अब जाने वाले कुछ इनको भी चैन पड़े
कब से तेरा रस्ता देखें छत-आँगन, दीवार-ओ-दर

जिसकी बातें अम्मा-अब्बू अक्सर करते रहते हैं
सरहद पार न जाने कैसा वो होगा पुरखों का घर

बारिशों में नहाना भूल गये
तुम भी क्या वो ज़माना भूल गये

कम्प्यूटर किताबें याद रहीं
तितलियों का ठिकाना भूल गये

फल तो आते नहीं थे पेड़ों पर
अब तो पंछी भी आना भूल गये

यूँ उसे याद करके रोते हैं
जैसे कोई ख़जाना भूल गये

मैं तो बचपन से ही हूँ संजीदा
तुम भी अब मुस्कुराना भूल गये

क्यों खड़ी हमने की हैं दीवारें
दूर जब कर रही हैं दीवारें

जैसे कोई सवाल करता है
इस तरह देखती हैं दीवारें

अब मुलाक़ात भी नहीं मुमकिन
दरमियां आ गयी हैं दीवारें

इक झरोका भी इनमें रख लेना
रौशनी रोकती हैं दीवारें

बारिशों ने गिरा दिया छप्पर
सिर्फ़ अब रह गयी हैं दीवारें

लग के दीवार-ओ-दर से रोता हूँ
और मुझे देखती हैं दीवारें

कितना दुश्वार है सफ़र 'परवाज़'
हर क़दम पर उठी हैं दीवारें

पवन कुमार

आप सभी पाठकों का दिली शुक्रिया। अब आख़िर में मैं अपनी पाँच ग़ज़लें आपको परोसता हूँ, आपके हवाले करता हूँ स्वाद कैसा होगा, नहीं जानता...मगर फिर भी...।

उसी पर मुनहसिर है फ़ैसला तो
मगर समझे वो पहले मुद्दआ तो

है मंज़िल की तलब में क़ाफ़िला तो
मगर दामन न छोड़े रास्ता तो

तअक़्क़ुब में हूँ मैं उसके मुसलसल
वो सीधा जानिब-ए-मकतल गया तो

यक़ीनन हिचकियाँ हमको भी आतीं
हमारी याद में वो जागता तो

कहाँ तक ज़िद पे तुम क़ायम रहोगे
दिया उसने जो अपना वास्ता तो

दिखाकर पीठ दुश्मन बच गया फिर
कसक ये है पलटकर देखता तो

मैं पिघली शक्ल में था बेनुमू सा
मुझे साँचे में कोई ढालता तो

आपकी इस सल्तनत में कुछ गुज़र मेरा भी है
है फ़लक भर आपका हक़ आँख भर मेरा भी है

सोचता हूँ जितना डरता था मैं पापा से कभी,
क्या मिरी औलाद को उतना ही डर मेरा भी है

ख़म रखूँ कब तक मैं गर्दन अपने सीने की तरफ
आस्माँ इक चाहिए मुझको कि सर मेरा भी है

बस यही इक रब्त है अब तो हमारे दरमियाँ
हमसफ़र तेरा रफ़ीक-ए-मोतबर मेरा भी है

बाद मुद्दत के अचानक वो मिला तो यूँ लगा
उसके ज़ेह्न-ओ-दिल पे अब तक कुछ असर मेरा भी है

वो फ़साना जिसमें तेरी फत्ह का था तज़्किरा
उस फ़साने में हवाला मुख़्तसर मेरा भी है

सोचकर बरसें हमारे शहर पर अब्र-ए-करम
सर छुपाने को यहाँ कच्चा सा घर मेरा भी है!

हैरत है जिन्हें मेरी तरक्की पे जलन भी
हैं उनमें नए दोस्त भी यारान-ए-कुहन भी

होती थी कभी महफ़िल-ए-अहबाब में रौनक
तारी है वहाँ अब तो उदासी भी घुटन भी

साथ उसका निभाता हूँ तो ये मेरा हुनर है
जो शख़्स बयकवक्त है पानी भी अगन भी

हँसते हुए चेहरे पे भी आती है उदासी
है चाँद की तक़दीर में थोड़ा सा गहन भी

इस राह-ए-मुहब्बत की है इतनी सी कहानी
इस राह में आये हैं बयाबाँ भी चमन भी

मंज़िल के लिए मुझको मिले हैं जो शरारे
शामिल है उन्हीं में मिरे पैरों की थकन भी

बेनाम से कुछ दर्द यहाँ ठहरे हुए हैं
है एक सराय की तरह अपना बदन भी

अब तर्क-ए-तअल्लुक का असर दोनों तरफ है
शर्मिंदा जो तू है तो पशेमाँ है 'पवन' भी

अफ़सुर्दगी कभी तो कभी गुदगुदी सही
है ज़िन्दगी यही तो यही ज़िन्दगी सही

झुँझला के मुझसे हज़रत-ए-नासेह कह गए
अच्छा ये आप समझे हैं अच्छा यही सही

है वापसी का जिक्र अबस अपने सामने
चलना हमारा काम है मंज़िल कड़ी सही

फ़ेहरिस्त-ए-रहनवान-ए-सुखन में तो मैं भी हूँ
पहला नहीं तो नाम मिरा आख़िरी सही

वैसे तो हर जनम है हमारा तुम्हारे नाम
फ़िलहाल इक जनम है सो ये पेशगी सही

इक ज़िन्दगी फ़ना हुई तुमसे बिछड़ते वक़्त
बाद उसके उम्र कट गयी यूँ ही रही सही

कुछ हो कि जिसने कर दिया इल्ज़ाम से बरी
क़िस्मत मिरी नहीं तो तेरी पैरवी सही

हर झूठ को है सच में बदलना उसी का काम
हुस्न-ए-बयाँ नहीं है तो जादूगरी सही

जो मीरे कारवाँ बस दो क़दम चलकर ही थक जाये
तो बेहतर है मुसाफ़िर रास्ते से ख़ुद भटक जाये

वही अब सो रहा है चैन से कहता था जो कल तक
क़सम उसको लगे जिसकी पलक इक पल झपक जाये

हक़ीक़त तुझको दुनिया की नज़र आ जायेगी लेकिन
तिरी आँखों पे जो परदा है वो पहले सरक जाये

ये मौसम सर्दियों का है सँभलकर आईना देखो
कहीं ऐसा न हो कुहरा तुम्हारा अक्स ढक जाये

बुलन्दी ठीक है लेकिन बस इक लग़्ज़िश पे जाने कब
खिसक जाये ज़मीं पैरों से हाथों से फ़लक जाये

उसे क्या ग़म उसे तो क़हक़हों में लुत्फ़ आता है
किसी की आँख भीगे या किसी की साँस अटक जाये

उसे झूठी तसल्ली दी है इस उम्मीद पर मैंने
बुझी आँखों में उसकी इक किरन शायद चमक जाये

जिनका शुक्रगुज़ार हूँ मैं...

जनाब शीन क़ाफ़ निज़ाम
जनाब मंसूर उस्मानी
जनाब अक़ील नोमानी
जनाब तुफ़ैल चतुर्वेदी
जनाब मयंक अवस्थी
जनाब आदिल रज़ा मंसूरी
जनाब उमापति जी
जनाब डॉ. लाल रत्नाकर
जनाब मनीष शुक्ल
जनाब वीनस केसरी
जनाब अमीर इमाम
जनाब हरीश चन्द्र शर्मा
जनाब अतुल माहेश्वरी
जनाब हृदेश कुमार
जनाब पंकज सिंह
और
मोहतरमा अंजू सिंह।

❑❑❑

तब्दीली क़ुदरत का क़ानून है लेकिन यह भी हक़ीक़त है कि चीज़ें अपने तब्दील न होने के दरमियान तब्दील होती हैं। वक़्त की तरह...जो बराबर बदलता रहता है लेकिन यह तब्दीली रोज़ सूरज के उगने और ढलने के दरमियान होती है और सूरज हमेशा रोज सुब्ह को उगता है और शाम को ढल जाता है...।

यही मामला शायरी का भी है। यह भी अपने तब्दील न होने के दरमियान तब्दील होती रहती है। दौर बदलता है, रुझान बदलते हैं लेकिन शायरी नहीं बदलती, क़ुदरत की तरह। वह अपने तमाम हुस्न के साथ सिर्फ़ शायरी रहती है। आप इस इंतख़ाब में शामिल शोअरा का कलाम पढ़िये। वे तमाम तब्दीलियाँ जो पिछले क़रीब बीस से पच्चीस बरसों में रुनुमा हुई हैं उनकी तस्वीरें इस इंतख़ाब में मौजूद हैं। इस दौर के सभी तक़ाज़े इस शायरी में साँस ले रहे हैं और यह शायरी अदब की रिवायतों से भी अपना रिश्ता बराबर बरक़रार रखती है। यह दस्तक सिर्फ़ अदब के दरवाज़े पर नहीं है बल्कि आपके ज़हन पर भी है। दरवाज़ा खोलिये और इसका खैर मक़दम कीजिए...

पवन कुमार

जन्म	:	8 अगस्त, 1975 को मैनपुरी (उ.प्र.) में।
पिता	:	श्री डी.पी. सिंह।
माता	:	श्रीमती शीला देवी।
पत्नी	:	श्रीमती अंजू सिंह।
शिक्षा	:	एम.ए. (रूरल डेवलपमेण्ट), लॉ ग्रेजुएट-सेण्ट जॉन्स कॉलेज, आगरा।
अभिरुचियाँ	:	सरकारी सेवा में आने से पूर्व समकालीन मुद्दों, प्रशासनिक विचारधाराओं, भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन, साहित्यिक-सामाजिक सरोकारों से जुड़े विभिन्न विषयों पर 100 से भी ज्यादा लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित।
सम्प्रति	:	भारतीय प्रशासनिक सेवा उ.प्र. संवर्ग में सेवारत।
प्रकाशन	:	'वाबस्ता' नामक ग़ज़ल-संग्रह। (पं. जयशंकर प्रसाद अवार्ड 2013 से सम्मानित)
स्थायी सम्पर्क	:	'सिंह सदन', गली नं. 7-A, राजा का बाग, मैनपुरी (उ.प्र.)
मेबाइल	:	09412290079
ई-मेल	:	singhsdm@gmail.com
ब्लॉग	:	singhsdm.blogspot.com